संस्कृत साहित्य का इतिहास

[संस्कृत साहित्य का प्रामाणिक इतिहास]

(बी० ए० तथा एम० ए० का पाठ्यग्रन्थ)

17/11/58

लेखक

बलदेव उपाध्याय

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

2/13-

१९५८

प्रकाशक
शारदा मन्दिर
बनारस

प्रथम संस्करण—१९४७
द्वितीय संस्करण—१९५०
तृतीय संस्करण—१९५३
परिवर्धित चतुर्थ संस्करण—१९५६
परिवर्धित पंचम संस्करण—१९५८
मूल्य ६ रु० ५० न० पै०

मुद्रक
महताब राय
नागरी मुद्रण, काशी

वक्तव्य

(तृतीय परिबृंहित संस्करण)

'संस्कृत साहित्य का इतिहास' आज अपने नवीन परिबृंहित संस्करण में पाठकों के सामने आ रहा है। यह ग्रन्थ कुछ दिनों से अप्राप्य था और पाठकों को इसके प्रकाशन के लिए विशेष उतावली तथा उत्कण्ठा थी। इस संस्करण में ग्रन्थ का कायाकल्प हो गया है। यह एक आमूल परिवर्धित नवीन ग्रन्थ ही है। इसमें अनेक विशिष्टतायें आ गई हैं। अभी तक 'श्रीमद्भागवत' केवल धार्मिक ग्रन्थ के ही रूप में प्रख्यात था, परन्तु यहाँ उसे उस संकीर्ण क्षेत्र से हटाकर काव्य के सार्वभौम क्षेत्र में लाया गया है और उस दृष्टि से उसकी उपजीव्यता दिखलाई गई है। 'उपजीव्य काव्य' का सामान्य अभिधान भी रामायण, महाभारत तथा भागवत की ग्रन्थत्रयी के लिए नितान्त नवीन और उपादेय है। श्रव्य काव्य की मूल प्रवृत्ति, उत्थान और अभ्युदय के लिए उपयुक्त वातावरण तथा उत्तेजक सामग्री का अध्ययन यहाँ समुचित रीति से प्रथम बार किया गया है। संस्कृत काव्य जन-साधारण के हृदय की अभिव्यञ्जना है, इस मत का प्रौढ उपपादन किया गया है। कवियों के ग्रन्थ की समालोचना पर इस बार अधिक ध्यान दिया गया। दृश्य काव्य की भी विशिष्टता तथा उदय के साथ साथ प्राचीन रंगमंच का भी वर्णन विषय की पूर्ति के लिए दे दिया गया है, 'जवनिका' के ऊपर अपने विचारों को मैंने कुछ विस्तार के साथ इस बार प्रस्तुत किया है। 'वैदिक साहित्य' के वर्णन प्रसंग में 'वेदों का काल-निर्णय' नामक अंश एकदम नया है तथा उपादेयता की दृष्टि से इस बार जोड़ दिया गया है।

पूर्व संस्करण में पुराण, दर्शन तथा पुरुषार्थ साहित्य का भी इतिहास सन्निविष्ट था, परन्तु इस बार इन्हें हटा दिया गया है और केवल ललित साहित्य ही का इतिहास कुछ विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ में चार खण्ड हैं—(१) प्रवेश खण्ड में संस्कृत साहित्य का वैशिष्ट्य, वैदिक साहित्य

तथा उपजीव्य काव्यों का वर्णन है (२) द्वितीय खण्ड (श्रव्य काव्य) में महाकाव्य, गीतिकाव्य, गद्य काव्य तथा कथा साहित्य का वर्णन है। (३) तृतीय खण्ड (दृश्य काव्य) में रूपक की उत्पत्ति तथा उसके विविध प्रकारों का संक्षिप्त इतिहास है। (४) चतुर्थ खण्ड (आलोचना) में अलंकारशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास है जिसमें विशिष्ट सम्प्रदायों के स्वरूप तथा मत का भी प्रदर्शन किया गया है।

काशी
नवरात्र प्रतिपद
सं० २०१०
८-१०-५३

—बलदेव उपाध्याय

(परिवर्धित चतुर्थ संस्करण)

इस संस्करण में अनेक स्थलों पर परिवर्तन किया गया है। श्रव्य काव्य के प्रसंग में नवीन ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारों का समावेश कर दिया गया है। दृश्यकाव्य का वर्णन पूर्व संस्करण की अपेक्षा इस बार लगभग तिगुना बढ़ा है। यह खण्ड फिर से नया लिखा गया है। नाटकों की विस्तृत सर्वाङ्गपूर्ण समीक्षा प्रस्तुत की गई है। संस्कृत नाटकों की आकृति तथा प्रकृति के ज्ञान के लिए तृतीय खण्ड के अंत में एतद्विषयक एक नवीन अंश जोड़ा गया है जिसमें संस्कृत के रूपकों की नवीन पद्धति पर सामूहिक समीक्षा एक ही स्थान पर उपलब्ध होगी। अनेक अध्यापकों के आग्रह से दार्शनिक सम्प्रदायों का वर्णन ग्रन्थ के अन्त में जोड़ा गया है। अनेक इतिहास-ग्रन्थ चतुर्दश शती तक के ही लेखकों के वर्णन से समाप्त हो जाते हैं जिससे पाठकों को यह धारणा बनी रहती है कि मध्ययुग में संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि नहीं हुई। इस धारणा को दूर करने लिए मैंने 'उपसंहार' में इस युग के साहित्य तथा साहित्यकारों का संक्षिप्त परिचय दिया है जिससे पाठकों को संस्कृत की काव्यधारा के इस युग में भी प्रवाहित होने का पूर्ण ज्ञान होगा। इस प्रकार इस नवीन संस्करण में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के

संस्कृत साहित्य के गौरवमय ग्रन्थों का परिचय जिज्ञासु पाठकों को एकत्र सुलभ हो जावेगा, यह मेरी पूरी आशा है।

काशी
मकरसंक्रान्ति, २०१२
१५-१-५६

—बलदेव उपाध्याय

(परिवर्धित पंचम संस्करण)

इस संस्करण में समग्र ग्रन्थ के विभिन्न खण्डों में स्थान स्थान पर परिवर्तन और परिबृंहण किये गये हैं। संस्कृत कवियों तथा काव्यों के विषय में नवीन अन्वेषण से अनेक नई नई बातों का पता चलता रहता है। इनमें से मुख्य तथ्यों का संकलन उचित स्थानों पर किया गया है। पौर्वापर्य की दृष्टि से कतिपय अंश भी स्थानान्तरित किये गये हैं। रामायण तथा महाभारत के टीकाकारों का प्रामाणिक विवरण पहिली बार दिया जा रहा है (पृष्ठ ७३ तथा पृष्ठ ९६)। कविवर अभिनन्द के काव्य का (पृ० २१९) तथा रूपगोस्वामी के गीतिकाव्यों का वर्णन इस बार जोड़ा गया है (पृ० २४७)। मेघदूत का व्यापक प्रभाव तथा उसके आधार पर निर्मित सन्देशकाव्यों की विस्तृत आलोचना इस संस्करण की विशिष्टता है। नाटककारों के विषय में भी अनेक स्थलों पर नई खोजों से उपलब्ध तथ्यों का संकलन किया गया है विशेषतः भास और विशाखदत्त के विषय में। प्रास सट्टकों का का इतिहास एक नई चीज है। ग्रन्थ के अन्त में 'बृहत्तर भारत' में संस्कृत काव्यों का सोदाहरण वर्णन इसका स्पष्ट प्रमाण है कि भारत के इन महनीय उपनिवेशों में संस्कृत भाषा का अध्ययन और संस्कृत काव्यों का निर्माण बड़े आदर तथा श्रद्धा के साथ किया जाता था। संस्कृत काव्यों के इतिहास में बृहत्तर भारत के इस योग को हम कथमपि भूल नहीं सकते।

विश्वास है कि इन परिवर्तनों के कारण यह ग्रन्थ इस नवीन रूप में उच्चकक्षा के छात्रों के लिए और सामान्य पाठकों के लिए समान भाव से अधिक उपकारक, उपादेय और उपयोगी सिद्ध होगा।

काशी
गुरुपूर्णिमा, सं० २०१५
१ जुलाई, १९५८

—बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

प्रथम खण्ड—प्रवेश खण्ड

पृष्ठ

(१) विषय प्रवेश १—२५

संस्कृत साहित्य की मूल प्रवृत्ति ३, साहित्य और संस्कृति ४, साहित्य और तत्त्वज्ञान ५, साहित्य और धर्म ७, साहित्य में 'कथा' ८, आरोप का निराकरण ९, संस्कृत साहित्य का महत्त्व १२–१७ 'साहित्य' का अर्थ १२, प्राचीनता १३, व्यापकता १४, धार्मिक दृष्टि १५, सांस्कृतिक दृष्टि १६, कलात्मक दृष्टि १७, संस्कृत भाषा का परिचय १७–२५, लौकिक और वैदिक संस्कृत १९, संस्कृत बोलचाल की भाषा २१, इतिहास का काल विभाग २५।

(२) वैदिक साहित्य २६—५७

महत्त्व २६, विभाग २६, संहितायें २७, त्रयी २८, ऋग्वेद २८, सामवेद २९, यजुर्वेद ३०, अथर्ववेद ३१ देवता ३२, ब्राह्मण ३३, उपनिषद् ३०, महत्त्व ३५, वेदाङ्गसाहित्य ३७, अनुक्रमणी ४१। वेदों का रचनाकाल ४२–५०, मैक्समूलर का मत ४३, वेद में ज्योतिष तत्त्व ४४, तिलक का मत ४६, वैदिककाल का विभाग ४७, पुराण ५०, पुराण की कल्पना ५१, पुराणों का काल ५३, महापुराण ५६, पुराण का महत्त्व ५६।

(३) उपजीव्य काव्य ५८–१२४

वैदिक तथा लौकिक साहित्य ५८, इतिहास की कल्पना ६०, उपजीव्य काव्य ६४, रूपभेद ६५, कालभेद ६६। रामायण ६७, संस्करण ६९, समय ७०, टीकाकार ७३, समीक्षण ७७, रामायण का रस-विवेचन ७९, रामचरित्र ८१, सीताचरित्र ८४। महाभारत ८९, रचयिता ९०, महाभारत का विकास ९१, रचनाकाल ९३, टीकाकार ९६, समीक्षा १०२, तुलना १०९, श्रीमद्भागवत ११४, रचनाकाल ११६, टीका-सम्पत्ति ११८।

द्वितीय खण्ड—श्रव्य काव्य

(४) संस्कृत काव्य की पृष्ठभूमि १२७–१५८

राजसी वातावरण १२७, जनजीवन की झाँकी १२८, संस्कृत काव्य की माधुरी १३४, काव्य का उदय तथा स्रोत १३७, काव्य का पुनर्जागरण १३९, कवि पाणिनि १४१, कवि वररुचि १४७, महाभाष्य में काव्य १४८; छन्दःशास्त्र की विशिष्टता १४९। महाकाव्य का विकास १५१।

(५) कालिदास १५८–१८७

स्थितिकाल १५९, काव्यग्रन्थ १६७, नाटकग्रन्थ १७०, समीक्षा १७२, पात्रचित्रण १७५, शाकुन्तल की समीक्षा १७७, चरित्रचित्रण १८०, प्रकृति-वर्णन १८४, कालिदास का सन्देश १८६।

(६) कालिदासोत्तर महाकाव्य १८८–३१६

महाकाव्य १८८, पाश्चात्य मत १८९, अश्वघोष १९०, मातृचेट २०० आर्यशूर २०३, भारवि २०७, भट्टि २१७, कुमारदास २२१। माघ २२७। प्रवरसेन २३७। अभिनन्द २३९, काश्मीरी कवि रत्नाकर २४४। शिवस्वामी २४६। क्षेमेन्द्र २४८, सोमेन्द्र २५२, मङ्खक २५४, श्रीहर्ष २५५, इतर कवि २७२, जैन कवि २७३। ऐतिहासिक महाकाव्य २७५, पद्मगुप्त परिमल २७६, बिल्हण २७७, कल्हण २७८। वाक्पतिराज २८८, शास्त्रकाव्य २९०, शैवकाव्य २९१, कृष्ण काव्य २९३, यमक-श्लेष काव्य २९६, सूक्तिसंग्रह ३०२, स्त्रीकवि ३०८,

(७) गीतिकाव्य ३१७—३७१

वैशिष्ट्य ३१७, वेद में गीति का उद्गम ३१९, लौकिक गीतिका ३२७, मेघदूत ३२७, सन्देश काव्य ३३१, भर्तृहरि ३३६, अमरुक ३३८, भल्लट ३४०, गोवर्धन ३४३, जयदेव ३४५, रूप गोस्वामी ३४७। स्तोत्र साहित्य ३४९, वैष्णवस्तोत्र ३५६, शैव स्तोत्र ३६१, जैनस्तोत्र ३६४। बौद्धस्तोत्र ३६५। उपदेशकाव्य ३६६,

(८) गद्यकाव्य ३२७—४२९

गद्य का विकास ३७४, शास्त्रीय गद्य ३७६ पाली गद्य ३७८, सुबन्धु ३७९, बाणभट्ट ३८६, दण्डी ४०७, इतर गद्य काव्य ४१६ । चम्पूकाव्य ४१७, त्रिविक्रम ४१९, इतर चम्पू ४२५ ।

(९) कथा साहित्य ४३०—४४६

व्यापक प्रभाव ४३०, पञ्चतन्त्र ४३३, हितोपदेश ४३६, बृहत्कथा ४३७, वेतालपञ्चविंशति ४४०, विक्रमचरित ४४१, जैनप्रबन्ध ४४२, भोजप्रबन्ध ४४५, दिव्यावदान ४४५ ।

तृतीय खण्ड—दृश्यकाव्य

(१०) मूलप्रवृत्ति ४४९—४८९

प्राचीनता ४५१ नाटक का उत्पत्ति ४५५ भारतीय नाटक पर ग्रीक प्रभाव ४६१, यवनिका ४६३; संस्कृत नाटक की विशिष्टता ४६७, सुखान्तरूपक का रहस्य ४७१, संस्कृत रंगमञ्च ४७४ । आकृति और प्रकृति ४८० ।

(११) नाटक का अभ्युदय ४९०—६२८

भास—प्राचीन उल्लेख, नाटकों का कर्तृत्व समय निरूपण, ग्रन्थ, नाट्य-कला, कथावस्तु, पात्र चित्रण, कालिदास और भास ४९०—५०८

विशाखदत्त—समय—समीक्षा ५०८—५१९

शूद्रक—स्थितिकाल, कथावस्तु, सामाजिकदशा, प्राकृत का वैशिष्ट्य, समीक्षण ५२०—५३५

हर्षवर्धन—ग्रन्थ—समीक्षा ५३६—५५०

भट्टनारायण—ग्रन्थ—समीक्षा ५५०—५६०

भवभूति—व्यक्तित्व—ग्रन्थ—समीक्षण ५६१—५८४

अनङ्गहर्ष—ग्रन्थ परिचय ५८ —५८७

मुरारि—समय तथा ग्रन्थ ५८७—५८८

राजशेखर—जीवनी—ग्रन्थ—समीक्षण ५८९—५९८

शक्तिभद्र—जीवनी तथा ग्रन्थ ५९८ ६००

जयदेव—परिचय तथा रचना ६००–६०३

इतर नाटक तथा नाटककार ६०३–६०५

रूपक के अन्य भेद ५४२—५६८

नाटिका ५४२, सट्टक का इतिहास ६०७, प्रकरण ६०९, भाण ६१०, प्रहसन ६१२, मत्तविलास ६१५, लटकमेलक ६१६, वत्सराज ६१८, छाया नाटक ,६२१ प्रतीक नाटक ६२१, कृष्णमिश्र ६२२, यशःपाल ६२४, वेदान्तदेशिक ६२४, कर्णपूर ६२५, आनन्दराय मखी ६२६, नल्लाध्वरि ६२७।

चतुर्थ खण्ड—साहित्यशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र

(१२) अलंकारशास्त्र ६२९–६५५

नामकरण ६३१, शास्त्र के आचार्य ६३३, भरत ६३४, भामह ६३५, दण्डी ६३६, वामन ६३७, उद्भट ६३८, रुद्रट ६३८, आनन्दवर्धन ६३९ अभिनवगुप्त ६४०, ध्वनि विरोधी आचार्य ६४१, ध्वनिमार्ग के आचार्य ६४३, अलंकारशास्त्र के सम्प्रदाय ६४६, (१) रस सम्प्रदाय ६४८, (२) अलंकार सम्प्रदाय ६४९, (३) रीति सम्प्रदाय ६५० (४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय ६५१, (५) ध्वनि सम्प्रदाय ६५३, (६) औचित्य सम्प्रदाय ६५४ ।

(१३) दर्शनशास्त्र ६५०

उदय ६५६, विकास का कालक्रम ६०१, नास्तिक दर्शन—चार्वाक ६०२, जैन ६०३, बौद्ध ६०४, आस्तिकदर्शन—न्याय ६०५, वैशेषिक ६०७, सांख्य ६१०, योग ६११, मीमांसा ६१४, वेदान्त ६१८, शंकर मत की विशेषता ६२१, वेदान्त साहित्य ६२३। समन्वय ६२५ क्रमिकविकास ६२६।

(१४) उपसंहार ६२८—६३३

मुगल बादशाहों के समय संस्कृत कवि ६२८, भानुदत्त ६२८, अकबरीय कालिदास ६२८, पण्डितराज जगन्नाथ ६२८, अमृतदत्त ६२८, पुण्डरीक विट्ठल ६३० हरनारायण मिश्र ६३०, लक्ष्मापति ६३०। दाक्षिणात्य कवि ६२८। हरिकवि ६३०। बाणेश्वर भट्टाचार्य ६३१। बृहत्तर भारत में संस्कृत काव्य ६३२, जावा-साहित्य पर संस्कृत काव्य का प्रभाव— ६५ ।

प्रथम खण्ड

प्रवेश खण्ड

(१) संस्कृत-साहित्य की मूल प्रवृत्ति
(२) वैदिक साहित्य
(३) उपजीव्य-काव्य

संस्कृत साहित्य का इतिहास

प्रथम परिच्छेद

विषय प्रवेश

संस्कृत साहित्य की मूल प्रवृत्ति

साहित्य समाज का दर्पण होता है। समाज जिस प्रकार का होगा वह उसी भाँति साहित्य में प्रतिबिम्बित रहता है। समाज के रूप रंग, ह्रास वृद्धि, उत्थान पतन, समृद्धि दुरवस्था के निश्चित ज्ञान का प्रधान साधन तत्कालीन साहित्य होता है। इसी प्रकार साहित्य संस्कृति का प्रधान वाहन होता है। संस्कृति की आत्मा साहित्य के भीतर से अपनी मधुर झाँकी सदा दिखलाया करती है। संस्कृति के बहुल प्रसार तथा प्रचार का सर्वश्रेष्ठ साधन साहित्य ही है। संस्कृति का मूल स्तर यदि भौतिकवाद के ऊपर आश्रित रहता है तो वहाँ का साहित्य कदापि आध्यात्मिक नहीं हो सकता और यदि संस्कृति के भीतर आध्यात्मिकता का भव्य भावनायें हिलोरें मारती रहती हैं तो उस देश तथा उस जाति का साहित्य भी आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुए बिना नहीं रह सकता। साहित्य सामाजिक भावना तथा सामाजिक विचार की विशुद्ध अभिव्यक्ति होने के कारण यदि समाज का मुकुर है, तो सांस्कृतिक आचार तथा विचार के विपुल प्रचारक तथा प्रसारक होने के हेतु, संस्कृति के सन्देश को जनता के हृदय तक पहुँचाने के कारण, साहित्य संस्कृति का वाहन होता है।

संस्कृत साहित्य का इतिहास पूर्वोक्त सिद्धान्त का पूर्ण समर्थक है। संस्कृत साहित्य भारतीय समाज के भव्य विचारों का रुचिर दर्पण है। भारतवर्ष में सांसारिक जीवन के उपकरणों का सौलभ्य होने के कारण भारतीय समाज जीवन संग्राम के विकट संघर्ष से अपने को पृथक् रखकर आनन्द की अनुभूति को, वास्तव शाश्वत आनन्द की उपलब्धि को, अपना लक्ष्य मानता है। इसीलिए संस्कृत काव्य जीवन की विषम परिस्थितियों के भीतर से आनन्द की खोज में सदा संलग्न रहा है। आनन्द सच्चिदानन्द भगवान् का विशुद्ध पूर्ण रूप है। इसीलिए संस्कृत काव्य की आत्मा रस है। रस का उन्मीलन—श्रोता तथा पाठक के हृदय में आनन्द का उन्मेष—ही काव्य का अन्तिम लक्ष्य है। संस्कृत आलोचनाशास्त्र में औचित्य, रीति, गुण तथा अलंकार आदि काव्यांगों का विवेचन होने पर भी रसविवेचन ही मुख्यतया प्रतिपाद्य विषय है। भारतीय समाज का मेरुदण्ड है गृहस्थाश्रम। अन्य आश्रमों की स्थिति गृहस्थाश्रम के ऊपर ही निर्भर है। फलतः भारतवर्ष का प्रवृत्तिमूलक समाज गृहस्थधर्म को पूर्ण महत्त्व प्रदान करता है और इसीलिए संस्कृत साहित्य में गार्हस्थ्य धर्म का चित्रण सांगोपांग पूर्ण तथा हृदयावर्जक रूप से उपलब्ध होता है। संस्कृत साहित्य का आद्य महाकाव्य वाल्मीकीय रामायण गार्हस्थ्यधर्म की धुरी पर घूमता है। दशरथ का आदर्श पितृत्व, कौशल्या का आदर्श मातृत्व, सीता का आदर्श सतीत्व, भरत का आदर्श भ्रातृत्व, सुग्रीव का आदर्श बन्धुत्व, और सबसे अधिक रामचन्द्र का आदर्श पुत्रत्व भारतीय गार्हस्थ्य धर्म के ही विभिन्न अंगों के आचरणीय आदर्शों की मधुमय मनोरम अभिव्यक्तियाँ हैं।

साहित्य और संस्कृति

संस्कृत साहित्य भारतीय संस्कृति का प्रधान वाहन रहा है। यदि संस्कृत के काव्यों में संस्कृति अपनी अनुपम गाथा सुनाती है, तो संस्कृत के नाटकों में वह अपनी कमनीय क्रीडा दिखलाती है। भारतीय संस्कृति का प्राण आध्यात्मिक भावना है। त्याग से अनुप्राणित, तपस्या से पोषित तथा तपोवन में

संवर्धित भारतीय संस्कृति का रमणीय आध्यात्मिक रूप संस्कृत भाषा के अर्थो में अपनी सुंदर झाँकी दिखलाता हुआ सहृदयों के हृदय को बरबस खींचता है। महर्षि वाल्मीकि तथा व्यास, कालिदास तथा भवभूति, बाण तथा दण्डी पाठकों की हृदयकली को विकसित करने वाले मनोरम काव्य की रचना के कारण जितने मान्य हैं, उतने ही वे भारतीय संस्कृति के विशुद्ध रूप के चित्रण करने के कारण भी आदरणीय हैं। संस्कृत कवि को राजा महाराजाओं के दरबार का इशारा पानेवाला चापलूस जीव मानने की भ्रान्त धारणा साहित्य के ऊपरी आलोचकों में भले फैली रहे, परंतु संस्कृत भाषा का कवि संकीर्ण विचारों का व्यक्ति न था जो अपने परिमित विचारों की कोठरी में अपना दिन बिताया करता था। वह समाज के विशुद्ध वातावरण में विचरण करता था, समाज के दुःख सुख की भावना उसके हृदय को स्पर्श करती थी, वह दीन-दुःखियों की दीनता पर चार आँसू बहाता था, वह सुखी जीवों के सुख के ऊपर रीझता था। वह भारतीय समाज का ही एक प्राणी था जिसका हृदय सहानुभूति की भावना से नितान्त स्निग्ध होता था। वह अपने काव्यों में जनता के हृदय की बातों का, प्रवृत्तियों का, जितना वर्णन करता था उतना ही वह अपने देश की संस्कृति के भी मूल्यवान आध्यात्मिक विचारों को अपने काव्यों में अंकित करता था। भारतीय संस्कृति का निखरा रूप हमें संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। बृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति का प्रचार तलवार के सहारे नहीं हुआ, कलम के सहारे हुआ। आज भी उस देश की सभ्यता तथा संस्कृति के गठन में संस्कृत साहित्य का विशेष हाथ है। संस्कृत साहित्य ने इन देशों की मूक जनता को भावों के प्रकटन का माध्यम प्रदान किया, हृदय को सरस बनाने के लिए कोमल भावमय कविता को सिखलाया और समाज व्यवस्था के नियमों को बतला कर उन्हें बर्बरता से उन्मुक्त किया और सभ्य-शिष्ट बनाया।

साहित्य और तत्त्वज्ञान

संस्कृत साहित्य के रूप निर्माण तथा विकास के ऊपर भारतीय तत्त्वज्ञान का विशेष प्रभाव पड़ा है। भारतीय दर्शन सर्वदा से आशावादी रहा है।

नैराश्य की कालिमा दर्शन के गगन-मण्डल को कतिपय क्षणों के लिए भले ही मलिन और अन्धकारपूर्ण बनाये, परन्तु आशावादिता का चन्द्रोदय उसे प्रकाश से प्रसन्न तथा शान्ति से स्निग्ध सर्वदा बनाये रखता है। संस्कृत नाटकों के सुखान्त रूप की जानकारी के लिए भारतीय दार्शनिक विचारों से परिचय पाना नितान्त आवश्यक है। भारतीय तत्त्वज्ञान नैराश्य के भीतर से आशा का, विपत्ति के भीतर से सम्पत्ति का तथा दुःख के भीतर से सुख का उद्गम अवश्यम्भावी मानता है। संसार का पर्यवसान दुःख में नहीं है। यह जीवन व्यक्तित्व के विकास में अपना स्वतः मूल्य और महत्त्व रखता है। संघर्ष के भीतर से सौख्य की प्रभा छिटकती है, संग्राम के बीच में विजय का शंखनाद घोषित होता है। मानव की वैयक्तिक पूर्णता की अभिव्यक्ति में यह जीवन एक साधनमात्र है। निष्प्रपंच ब्रह्म की भी प्राप्ति प्रपंच के भीतर से ही होती है। फलतः संसार का व्यापक दुःख, परिदृश्यमान सन्ताप तथा वैषम्य-मय क्लेश अन्ततोगत्वा सुख में, सौख्य में तथा आनन्द में परिणत होते हैं। इसी दार्शनिक विचारधारा के कारण जीवन के संघर्ष को प्रदर्शित करने पर पर भी नाटक का पर्यवसान सदा मंगलमय होता है। संस्कृत में दुःखान्त नाटकों के नितान्त अभाव का रहस्य इसी दार्शनिक सिद्धान्त में छिपा है। संस्कृत नाटककारों के ऊपर जीवन के केवल सौख्यपक्ष के प्रदर्शक होने से एकाङ्गित्व का आरोप कथमपि न्याय्य नहीं माना जा सकता। काव्य जीवन का पूर्ण अभिव्यक्ति है। सच्चा कवि जीवन के सुखदुःखों में रमता है। वह जनता के जीवन का अनुभव कर उसके मार्मिक स्थलों को कमनीय भाषा में अभिव्यक्त करता है। उसके काव्यों में जनहृदय स्पन्दित होता है और जनता की मूक वेदना अपनी पूर्ण तथा प्रभावशाली अभिव्यञ्जना पाती है उसकी कमनीय कृतियों में। सुख और दुःख, वृद्धि और ह्रास, राग और द्वेष, मैत्री और विरोध के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न नानात्मक स्थिति का ही एक छोटा अभिधान 'जीवन' है। इसकी पूर्ण अभिव्यञ्जना दुःख का सर्वथा परिहार कर देने पर क्या कभी हो सकती है? क्या संस्कृत का कवि जीवन के केवल सौख्यपक्ष के चित्रण में ही अपनी वाणी की चरितार्थता मानता है? संस्कृति तथा जनजागरण का अग्रदूत संस्कृत कवि तात्त्विक रूप से जीवन के

अन्तस्तल को परखता है और उसका सच्चा वर्णन प्रस्तुत करता है, परन्तु जीवन का मंगलमय पर्यवसान तथा कल्याणमय उद्देश्य होने के कारण वह दुःखपर्यवसायी काव्यों तथा नाटकों की रचना से सर्वदा पराङ्मुख होता है। संस्कृत साहित्य का यही मौलिक वैशिष्ट्य है।

साहित्य और धर्म

भारतवर्ष धर्मप्राण देश है और भारतीय संस्कृति धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत है। भारतीय धर्म का आधारपीठ है आस्तिकता, सर्वशक्तिशाली भगवान् की जागरूक सत्ता में अटूट विश्वास। भारत भगवान् के चरणारविन्द में अपने आपको लुटा देने में ही जीवन की सार्थकता मानता है। संसार की क्लेशभावना जीवों को तभी तक कलुषित तथा सन्तप्त बनाती है, जब तक वह भगवान् का निजी सेवक जन न बन जाता। तभी तक रागादिक चोर के समान सन्तापदायक हैं, यह गृह कारागृह है और यह मोह तभी तक पैरों की बेड़ी है, जबतक जीव 'त्वदीय' नहीं बनता। भगवज्जन होते ही मोह की बेड़ी खुल जाती है और जीव ज्ञान की मीठी स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगता है,—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः।

—भागवत १०।१४।३६

भगवान के प्रति भक्तिभाव के इस प्राचुर्य ने संस्कृत में एक विशाल साहित्य का जन्म दिया है जो 'स्तोत्रसाहित्य' के नाम से अभिहित किया जाता है। हृदय की दीनता, आत्मनिवेदन, अपराधस्वीकार—आदि कोमल भावों की विशाल राशि प्रस्तुत करने वाला यह मनोवैज्ञानिक साहित्य संसार के साहित्य में विरला ही है। संस्कृतभाषा के श्लाघनीय स्तोत्र कोमल भावों की अभिव्यञ्जना में अपनी समता नहीं रखते। संस्कृत काव्यों का यह वैशिष्ट्य भारतीय धर्म की भक्तिप्रवणता के ऊपर आधारित है। हमारी तो यह दृढ़ धारणा है कि संस्कृत साहित्य गीति काव्यों अथवा प्रगीत मुक्तकों का

जनक है। संस्कृत भाषा की मधुरता भी संस्कृत काव्यों की गेयरूपता का एक साधन है। यही कारण है कि संस्कृत काव्यों में कोमल-कान्त-पदावली का इतना बाहुल्य है तथा हृदयकली को खिलानेवाले मनोमुग्धकारी भक्तिमय काव्यों का प्राचुर्य है। ऋग्वेद के मन्त्रों से लेकर आज तक मनोमुग्धकारी स्तोत्रों का यह प्रवाह अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होता आ रहा है। जिस प्रकार वैदिक ऋषि वरुण से अपने अपराधों की क्षमा याचना करता है, उसी प्रकार पिछले युग का भक्तकवि भगवान् से अपराधों को क्षमा कर आत्मसात् कर लेने की प्रार्थना करता है—

> अपराधसहस्र-भाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे ।
> अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात् कुरु ॥
>
> —मुकुन्दमाला

साहित्य में कथा का उदय

मानव प्रकृति स्वभावतः कौतुक तथा विस्मय की ओर आकृष्ट होती है। नित्यप्रति व्यावहारिक जीवन से, परिचित कार्यकलाप से, जहाँ कुछ भी नवीनता तथा विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है, वहीं विस्मय की उद्गमभूमि है। भारतवर्ष के विविधरंगी वातावरण में विस्मय का स्थान तथा प्रसार बहुत ही अधिक है। प्राची क्षितिज पर सुनहली छटा छिटकाने वाली तथा प्रभापुञ्ज को बिखेरने वाली उषा का दर्शन जैसा आश्चर्य दर्शक के हृदय में उत्पन्न करता है, वैसा ही विस्मय उत्पन्न करता है नैश नील नभोमण्डल में रजतरश्मियों को बिखरनेवाले तथा नेत्रों में शीतलतामयी छटा फैलानेवाले शीतरश्मि का उदय। दोनों ही कौतुकावह हैं, विस्मयवर्धक हैं। संस्कृत आलोचकों में 'आश्चर्य रस' को ही मूलभूत आदिम रस माननेवाले आचार्यों का भी एक विशिष्ट सम्प्रदाय है। मानव की इस कौतुकमयी प्रकृति की चरितार्थता के निमित्त भारतीय साहित्य में एक नवीन काव्यपरम्परा का उदय हुआ है, जो 'कथा' के नाम से अभिहित की गई है। सामान्यरूपेण कौतुकवर्धक कथाओं का उदय प्रत्येक देश के साहित्य में हुआ है और होता है। मानव की स्वाभाविक प्रकृति को

चरितार्थ करने का यह व्यापक साहित्यिक प्रयास है, परन्तु संस्कृत साहित्य के साथ 'कथा' का कुछ विशेष सम्बन्ध है। विश्व में कथा की उद्गम-भूमि है हमारा संस्कृत साहित्य, जहाँ से कथाओं ने पश्चिमी देशों की यात्रा कर वहाँ के साहित्य में घर कर लिया है और उन देशों के रहन सहन, जन-जीवन, आचार-व्यवहार में घुल-मिल गई हैं। भारत में कथाएँ केवल कौतुकमयी प्रवृत्ति को चरितार्थ करने के अतिरिक्त धार्मिक शिक्षण के लिए भी प्रयुक्त की जाती थीं और यही कारण है कि ब्राह्मणों ने, जैनियों ने तथा बौद्धों ने समान भाव से साहित्य के इस अंग का परिवर्धन और उपबृंहण किया है। बौद्धों के जातकों का साहित्य के इतिहास में तथा बौद्धकला के संवर्धन में विशेष महत्त्व रहा है। कहानी लिखने में जैनियों को शायद ही कोई पराजित कर सके। उनके यहाँ इसका एक विशाल भव्य साहित्य है। पञ्चतन्त्र स्वयं विस्मयावह कहानियों का एक सामान्य संग्रहमात्र न होकर साहित्य की दृष्टि से एक नितान्त उपादेय ग्रन्थ है जिसका प्रभाव भारत के ही कथा-साहित्य के ऊपर न पड़ कर पश्चिमी जगत् के साहित्य पर विशेष रूप से पड़ा है।

आरोप का निराकरण

संस्कृत साहित्य के ऊपर पश्चिमी आलोचकों ने विशेष दोषारोपण कर रखा है कि यह साहित्य नितान्त अलंकारपूर्ण तथा कृत्रिम है। वे संस्कृत काव्य की नैसर्गिकता, स्वाभाविकता तथा अलंकारविहीनता के स्वरूप से एकदम अपरिचित हैं, ऐसा तो सामान्यतः माना नहीं जा सकता। परन्तु उनका आरोप भारतीय आलोचकों के लिए वेदवाक्य के समान मान्य तथा ग्राह्य होने से बड़े अनर्थ की जड़ बना हुआ है। संस्कृत भाषा में निबद्ध काव्यों में भी हृदय के भावों की उतनी ही स्वाभाविक अभिव्यक्ति है जितनी किसी भी प्रौढ़ साहित्य के माननीय काव्यों में हो सकती है। प्राचीन कवियों के काव्यों में स्वाभाविकता का साम्राज्य है। ये कवि मानव हृदय के सच्चे पारखी थे और अपनी सच्ची अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना के लिए इन्होंने 'रसमयी पद्धति' का आश्रय लिया है। वाल्मीकि तथा व्यास पर, कालिदास तथा अश्वघोष पर

कृत्रिम कविता लिखने का दोष कोई भी समझदार आलोचक मढ़ नहीं सकता। अलङ्कारों की सजावट से चमत्कृत शैली का उदय सप्तम तथा अष्टम शताब्दी के अनन्तर की एक घटना है और इसका भी एक कारण है। सप्तम-अष्टम शतक भारतवर्ष के साहित्यिक इतिहास में पाण्डित्य का युग है। इस समय बौद्ध नैयायिकों तथा जैन दार्शनिकों के वेदविरोधी तर्कों का खण्डन ब्राह्मण पण्डितों ने बड़ी ही प्रौढ़, प्रामाणिक युक्तियों के बल पर किया। इस युग का वायुमण्डल पण्डितों के कर्कश तर्कों के द्वारा निनादित होता था। पाण्डित्य ही कवित्व की भी कसौटी माने जाने लगा। पाठकों के आदर्श में भी परिवर्तन हो गया। प्राचीन कवि जिन सामान्य विश्वास के भाजन पाठकों के हृदयावर्जन के लिए काव्य का प्रणयन करता था, इस युग का कवि अब तर्क भावना से मण्डित पाठकों की रुचि के अनुरूप कविता का निर्माण करता था। काव्य के लक्ष्य में परिवर्तन न होने पर भी परिवर्तित स्थिति ने कवियों को 'अलङ्कृत शैली' में लिखने के लिए बाध्य किया। अन्यथा संस्कृत आलोचना-शास्त्र की मान्य शैलियों में अलंकार की भव्यभूषा से मण्डित ओजप्रधान समास-बहुला शैली अन्यतम प्रकारमात्र है वह काव्य का सर्वे-सर्वा नहीं है। इसीलिए संस्कृत के आद्य आलोचक भामह ने तर्कप्रधान शास्त्र से भावप्रधान काव्य का विभेद दिखलाते हुए काव्य का स्पष्टतः 'आविद्वदङ्गनाबाल-प्रसिद्धार्थं' लिखा है। काव्य केवल विद्वानों के पुष्ट दिमाग के लिए ही चीज नहीं है, प्रत्युत वह शास्त्र से अनभिज्ञ स्त्रियों तथा बच्चों के भी समझ में भी आने वाली चीज है। यदि किसी काव्य को विशिष्ट पाठक ने ही समझा, तो क्या समझा? वह काव्य होने पर भी 'अप्रतीतार्थ' दोष से दुष्ट काव्य ठहरेगा। काव्य का लक्ष्य सामान्य जन है विशेष जन नहीं। प्रसन्न काव्य की यही निशानी है कि स्त्री तथा बच्चे भी उतनी ही आसानी से उसे समझ जाँय, जितनी आसानी से कोई विशेष शिक्षित जन। माधुर्य तथा प्रसाद गुण काव्य का प्राण माना गया है। ऐसी स्थिति में इस दोष के आरोप का प्रसंग ही निराधार और निर्मूल है।

निष्कर्ष यह है कि हमारी संस्कृत भाषा संसार भर की भाषाओं में श्रेष्ठ है। हमारा संस्कृत साहित्य समग्र सभ्य साहित्यों में प्राचीनता, व्यापकता

साथ अभिरामता में बढ़कर है। यदि इस भूमि-वलय पर कोई भी भाषा सबसे प्राचीन होने की अधिकारिणी है तो वह हमारी संस्कृत भाषा ही है। आजकल अपनी ऊँची सभ्यता पर गर्व करनेवाली जातियाँ जब जंगलों में घूम घूम कर केवल संकेतमात्र से अपने मनोगत भावों को प्रकट किया करती थीं, उस समय अथवा उससे भी बहुत पहले हमारे पूजनीय पूर्वज आर्य लोग इसी देववाणी के द्वारा सरस्वती के किनारे भगवान् की विभूतियों की पूजा में रहस्यमयी ऋचाओं का उच्चारण तथा सरल सामों का गायन किया करते थे। उसी समय उन्होंने आध्यात्मिक जगत् की समस्याओं को सुलझाकर अपने उन्नत मस्तिष्क का परिचय दिया था। संसार में सबसे प्राचीन ग्रन्थ और हमारे धर्म-सर्वस्व वेद भगवान् इसी गौरवमयी गीर्वाण वाणी में आराधनीय ऋषियों के द्वारा परमात्मा की आन्तरिक प्रेरणा 'दृष्ट' हुए हैं। अध्यात्म की गुत्थियों को सुलझानेवाले तथा मानव मस्तिष्क के चरम विकास को प्रकट करनेवाले उपनिषद् भी इसी भाषा में अभिव्यक्त किये गये हैं। पृथिवी की उत्पत्ति से लेकर प्रलय तक का विस्तृत तथा विचित्र इतिहास प्रस्तुत करनेवाले पुराणों की रचना इसी सुन्दर भाषा में की गई है। आर्यों की प्राचीन रीतियों, रूढियों और परम्पराओं का प्रशस्त तथा सर्वांगीण वर्णन उपस्थित करनेवाले धर्मशास्त्रों की निर्मिति भी इसी भाषा में हुई है। सारांश यह है कि लौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस की सिद्धि के साधक जितने ज्ञान और विज्ञान हैं, जितने कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड हैं, जितने शास्त्र और पुराण हैं, उन सबको अवगत करने का उपाय यही संस्कृत भाषा है। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि हमारा साहित्य 'परा' तथा 'अपरा' विद्याओं का मनोरम भाण्डागार है जिसके रहस्यों का पता संस्कृत भाषा के ज्ञान से ही किया जा सकता है। इन्हीं सब कारणों से हमारी संस्कृत भाषा परम महनीया, विद्वज्जनमाननीया तथा सौभाग्यशोभनीया है।

२

संस्कृत-साहित्य का महत्त्व

'साहित्य' का अर्थ

'साहित्य' शब्द और अर्थ के मञ्जुल सामञ्जस्य का सूचक है। इसकी व्युत्पत्ति है 'सहितयोः भावः साहित्यम्' अर्थात् सहित शब्द तथा अर्थ का भाव। इस मौलिक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हमारे काव्य ग्रन्थ तथा अलङ्कार ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर दीख पड़ता है। महाकवि भर्तृहरि ने सङ्गीत तथा साहित्य से विहीन पुरुष को जब पशु कहा[1] तब उनका अभिप्राय 'साहित्य' के उन कोमल काव्यों से है जिनमें शब्द और अर्थ का अनुरूप सन्निवेश है। शास्त्र और साहित्य का अन्तर यही है कि शास्त्र में अर्थप्रतीति के लिए ही शब्द का प्रयोग किया जाता है, परन्तु काव्य में शब्द और अर्थ दोनों एक ही कोटि के होते हैं, न तो कोई घटकर रहता है, न बढ़कर[2]। इसी अर्थ को दृष्टि में रखकर राजशेखर ने साहित्य विद्या को 'पञ्चमी विद्या' कहा है जो इतर चार विद्याओं—पुराण, न्याय (दर्शन), मीमांसा, धर्मशास्त्र—का सारभूत[3] है। बिल्हण ने अपने विक्रमाङ्कदेवचरित में काव्यरूपी अमृत को साहित्य समुद्र के मन्थन से उत्पन्न होने वाला बतलाया है।[4] इस प्रकार 'साहित्य' शब्द का प्रयोग सङ्कुचित अर्थ में काव्य, नाटक आदि के लिये होता है। परन्तु इधर साहित्य शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में भी होने

---

[1] साहित्य-सङ्गीत-कलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।

[2] न च काव्ये शास्त्रादिवत् अर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते। सहितयोः शब्दार्थयोः तत्र प्रयोगात्—साहित्यं तुल्यकक्षत्वेन अन्यूनानतिरिक्तत्वम्—व्यक्तिविवेकटीका (पृष्ठ २६)

[3] पञ्चमी साहित्यविद्येति यायावरीयः। सा हि चतसृणां विद्यानामपि निष्यन्दः—काव्यमीमांसा (पृष्ठ ४)

[4] साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ॥—१।११

लगा है साहित्य' से अभिप्राय उन ग्रन्थों से है जो किसी भाषा विशेष में निबद्ध किये गये हों। इस अर्थ में वाङ्मय शब्द का प्रयोग उचित प्रतीत होता है। अंग्रेजी भाषा में प्रयुक्त 'लिटरेचर' शब्द के लिये ही साहित्य का प्रयोग इधर होने लगा है। इस ग्रन्थ में साहित्य का प्रयोग संकुचित अर्थ में ही किया गया है और अधिक लोकप्रिय होने के कारण काव्य के नाना रूपों का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया गया है।

प्राचीनता

संस्कृत साहित्य की महत्ता को प्रदर्शित करने वाले अनेक कारण विद्यमान हैं। सर्वप्रथम प्राचीनता की दृष्टि से यह साहित्य बेजोड़ है। इतना प्राचीन साहित्य कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि में मिश्रदेश का साहित्य सबसे प्राचीन माना जाता है परन्तु वह भी कितना प्राचीन है? विक्रम से केवल चार हजार वर्ष पूर्व। हमारे यहाँ ऋग्वेद की रचना के समय के विषय में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वान् लोग ऋग्वेद की रचना हजारों वर्ष पूर्व मानते हैं। यदि इस मत को अत्युक्तिपूर्ण होने से हम मानने के लिये प्रस्तुत न भी हों, तो भी उस मत में तो हमें आस्था रखनी ही पड़ेगी जिसे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने गणित के अकाट्य प्रमाणों के ऊपर निर्धारित किया है। उनका कहना है कि ऋग्वेद के अनेक सूक्तों की रचना विक्रम से कम से कम छः हजार वर्ष पूर्व अवश्य हुई थी। यही मत आजकल का प्रामाणिक मत है। इसके अनुसार संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम ग्रन्थ का निर्माण आज से लगभग आठ हजार वर्ष पहले हुआ था। कोई भी साहित्य इतना प्राचीन नहीं है। तब से साहित्य की जो धारा प्रवाहित हुई वह आज तक अविच्छिन्न गति से चली आ रही है। अन्य साहित्यों का इतिहास देखने से प्रतीत होता है कि वह साहित्य अनुकूल परिस्थितियों में पनपता है, प्रवाह कुछ दिन तक अवश्य जारी रहता है, परन्तु विषम परिस्थिति के उपस्थित होते ही वह प्रवाह बिल्कुल धीमा हो जाता है। परन्तु संस्कृत साहित्य में यह दोष नहीं दीख पड़ता। वेदों की मन्त्रसंहिताओं की रचना के अनन्तर उनकी व्याख्या का काल आता है। उस समय जो ग्रन्थ रचे गये उन्हें 'ब्राह्मण' नाम से पुकारते हैं। ब्राह्मणों के अनन्तर आरण्यकों की रचना हुई, तदनन्तर उपनिषदों

की, पीछे रामायण, महाभारत और पुराणों का युग आता है। इसके बाद काव्य नाटक, गद्य पद्य कथा, आख्यायिका, स्मृति और तन्त्र के निर्माण का समय आता है जो मध्ययुग से पहले साहित्यप्रेमी भारतीय नरेशों की छत्रछाया में खूब ही पनपा। इस प्रकार सस्कृत साहित्य की अविच्छिन्न परम्परा आठ हजार वर्षों से निरन्तर चली आ रही है। प्राचीनता की दृष्टि से यदि विचार किया जाय अथवा अविच्छिन्नता की कसौटी पर इसे कसा जाय, तो यह साहित्य नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है।

व्यापकता

सस्कृत साहित्य सर्वाङ्गीण है। यह सब अङ्गों मे परिपूर्ण है। मानव जीवन के लिये चार ही पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। सस्कृत साहित्य मे इन चारों पुरुषार्थों का विवेचन बड़े विस्तार तथा विचार के साथ किया गया है। साधारण लोगों की यह धारणा बनी हुई है कि सस्कृत साहित्य में केवल धर्मग्रन्थों का ही बाहुल्य है। परन्तु बात कुछ दूसरी है। प्राचीन ग्रन्थकारों ने भौतिक जगत् के साधनभूत अर्थशास्त्र और कामशास्त्र के वर्णन की ओर भी अपनी दृष्टि फेरी है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' तो प्रसिद्ध ही है। इस एक ग्रन्थ के ही अध्ययन से हम सस्कृत साहित्य में लिखे गये राजनीति शास्त्र से सर्वाङ्गीण परिचय प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इसके सिवाय एक विशाल साहित्य अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में है। 'कामशास्त्र' भी हमारी उपेक्षा का विषय कभी नहीं था। जिस विषय के ज्ञान के ऊपर मानव-जीवन का सौख्य निर्भर है भला उस विषय का चिन्तन कभी उपेक्षा का विषय हो सकता है? वात्स्यायन मुनि ने 'कामसूत्र' मे गार्हस्थ्य जीवन के लिये उपादेय साधनों का वर्णन बड़े अच्छे ढग से किया है। इसी सूत्र को आधार मानकर अनेक ग्रन्थों की रचना कालान्तर में की गई। विज्ञान, ज्योतिष, वैद्यक, स्थापत्य, पशु पक्षि सम्बन्धी लक्षण ग्रन्थ सस्कृत साहित्य मे प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। धर्म और मोक्ष सम्बन्धी रचनाओं के विषय मे तो चर्चा करना ही व्यर्थ है। सच तो यह है कि यहाँ 'प्रेय शास्त्र' तथा 'श्रेय शास्त्र' उभय शास्त्रों के अध्ययन की ओर प्राचीन काल मे विद्वानों की प्रवृत्ति रही है। 'प्रेय शास्त्र' वह है जिसमे ससार में सुख देने वाली क्रियाओं का वर्णन हो और श्रेय शास्त्र'

[illegible] है जिसमें इस प्रपंच के दुःखों को दूर करनेवाले मोक्षोपयोगी विषयों का विवेचन हो। इन दोनों प्रकार के शास्त्रों की रचना संस्कृत साहित्य में उपलब्ध हो रही है। अन्य साहित्यों की ऐसी दशा नहीं। मिश्र देश के साहित्य में है क्या? जीवन को सुखमय बनाने वाली विद्याओं का तो अत्यधिक वर्णन है, परन्तु हृदय को विकसित करने वाली कला का न तो कहीं पता है और न अध्यात्मविषयक चिन्तन की कहीं चर्चा है। जिस देश में ऊँचे ऊँचे महलों के बनाने वाले तथा उसे सुसज्जित करने वाले इंजीनियर ही परम पूजा के आस्पद हैं, भला उस देश के साहित्य में सर्वांगीणता कहाँ से आ सकता है? पश्चिमी विद्वानों का कहना है कि संस्कृत साहित्य का जो अंश छपकर प्रकाशित हुआ है वह भी ग्रीक और लैटिन साहित्यों के समग्र ग्रन्थों से दुगुना है। जो अभी तक हस्तलिखित ग्रन्थ के रूप में पड़ा हुआ है या किसी प्रकार नष्ट हो गया है उसकी तो गणना ही अलग है।

धार्मिक दृष्टि

धार्मिक दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य विशेष गौरव रखता है। जो व्यक्ति आर्यों के मूल धर्म के स्वरूप को जानने का इच्छुक हो उसे वेदों का पढ़ना बहुत जरूरी है। वेदों से आर्यधर्म का विशुद्ध रूप उपलब्ध होता है। भारतीय धर्म तथा दर्शन की भिन्न भिन्न शाखाएँ कालान्तर में उत्पन्न हुईं तथा नवीन मतों का भी प्रचार हुआ। परन्तु इनके यथार्थ रूप जानने के लिये वेदों का अध्ययन आवश्यक ही है। वेद वह मूल स्रोत है जहाँ से नाना प्रकार की धार्मिक धाराएँ निकल कर मानव हृदय तथा मस्तिष्क को सदा से आप्लावित करती आई हैं। हम भारतवासियों के लिये ही नहीं, प्रत्युत अन्य देशों के लिये भी, संस्कृत साहित्य का अनुशीलन धार्मिक दृष्टि को लक्ष्य में रखकर विशेष उपादेय है। वेदों के अनुशीलन का ही फल है कि पश्चिमी विद्वानों ने तुलनात्मक पुराण-शास्त्र (कम्पेरेटिव माइथालाजी) जैसे नवीन शास्त्र को ढूँढ निकाला। इस शास्त्र से पता चलता है कि प्राचीन काल में देवताओं के सम्बन्ध में लोगों के क्या विचार थे तथा किन किन उपासना के प्रकारों से वे उनकी कृपा प्राप्त करने में सफल होते थे।

सांस्कृतिक दृष्टि

सांस्कृतिक दृष्टि से संस्कृत साहित्य का गौरव और भी विशेष रूप से दीख पड़ता है। इतिहास के पृष्ठों से यह प्रमाणित हो चुका है कि भारतीय लोग अन्य देशों में अपने प्रभुत्व को, अपनी सभ्यता को अपनी संस्कृति को फैलाने के लिये सदा से उद्योगशील रहे हैं। उन्होंने प्रशान्त महासागर के द्वीपपुञ्जों में जाकर अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। भारतवर्ष और चीन के बीच में जो विशाल प्रायद्वीप है उसे आज 'हिन्द चीन' (इण्डो चीन) कहते हैं। इससे सूचित होता है कि उसका आधा अंश चीन का है। परन्तु १३वीं और १४वीं शताब्दी से पहले इसमें चीन का कुछ भी अंश न था। यह बिलकुल 'हिन्द' ही था। बहुत पहले यहाँ जंगली जातियाँ रहती थीं परन्तु सुवर्ण की खान होने के कारण जिन भारतीय नाविकों ने इन स्थानों का पता लगाया उन्होंने इसे 'सुवर्ण भूमि' तथा द्वीपों को 'सुवर्णद्वीप' नाम दिया। अशोक के समय यहाँ भी बुद्ध का उपदेश पहुँचाया गया। विक्रम के आरम्भ से लेकर १४वीं शताब्दी तक अनेक भारतीय राज्य यहाँ बने रहे जिनमें संस्कृत राजभाषा के रूप में व्यवहृत होती थी। कम्बोज में मनु की धार्मिक व्यवस्था के अनुसार राज्य प्रबन्ध किया जाता था। आर्यावर्ती वर्णमाला और वाङ्मय के सम्पर्क से यहाँ की स्थानीय बोलियाँ लिखित भाषाएँ बन गई और धीरे धीरे साहित्य का विकास होने लगा। यहाँ जो वाङ्मय विकसित हुआ वह पूर्ण रूप से भारतीय था। इस प्रकार कम्बोज की 'ख्मेर' भाषा, चम्पा की (आजकल का फ्रांसीसी हिन्द-चीन) 'चम्म' भाषा तथा जावा की 'कवि' भाषा आर्यावर्त की वर्णमाला में लिखी गई जिनमें संस्कृत साहित्य से आवश्यक उपादान ग्रहण कर सुन्दर तथा कल्याणकारी साहित्य का निर्माण किया गया। जावा की 'कवि' भाषा में रामायण और महाभारत के व्याख्यान विद्यमान हैं। भारतवासियों के समान ही यहाँ के निवासी रामलीला तथा अर्जुनलीला देख कर आज भी अपना चित्तविनोद किया करते हैं। बाली द्वीप की सभ्यता तथा धर्म पूर्णरूपेण भारतीय हैं। यहाँ का धर्म तन्त्रप्रधान है। वैदिक मन्त्रों का उच्चारण तथा सन्ध्या-वन्दन आज भी यहाँ विकृत रूप में ही सही परन्तु विद्यमान तो हैं। मंगोलिया की मरुभूमि में भी संस्कृत साहित्य पहुँचा था।

वहाँ भारतीय ग्रथ तो उपलब्ध हुए ही हैं, साथ ही साथ वहाँ की भाषा में महाभारत से सम्बद्ध अनेक नाटक उपलब्ध हुए हैं जिनमे 'हिडिम्बा वध' मुख्य है।

कलादृष्टि से महत्त्व

इस प्रकार प्राचीनता, अविच्छिन्नता, व्यापकता, धार्मिकता तथा सभ्यता की दृष्टि से परीक्षा करने पर हमारा सस्कृत साहित्य नितान्त महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। प्रत्येक भारतीय का यह परम कर्तव्य है कि वह इस साहित्य का अध्ययन करे। इसके अतिरिक्त विशुद्ध कला की दृष्टि से भी यह साहित्य उपेक्षणीय नहीं है। जिस साहित्य मे कालिदास जैसे कमनीय कविता लिखने वाले कवि हुए, भवभूति जैसे नाटककार हुए जिनकी वशवर्तिनी बनकर सरस्वती ने अपूर्व लास्य दिखलाया, बाणभट्ट जैसे गद्य-लेखक हुए जो अपने सरस-मसृण काव्य से त्रिलोकसुन्दरी कादम्बरी की कमनीय कथा सुना-सुनाकर श्रोताओ को मत्त बनाया जयदेव जैसे गीतिकाव्य के लेखक विद्यमान थे जिन्होंने अपनी 'मधुर कोमल कान्त पदावली' के द्वारा विदग्धो के चित्त में मधुरस की वर्षा की, श्रीहर्ष जैसे पण्डितकवि हुए जिन्होने काव्य और दर्शन का अपूर्व सम्मिलन प्रस्तुत किया उस साहित्य की महिमा का वर्णन समुचित शब्दों मे कैसे किया जा सकता है?

३

संस्कृत भाषा का परिचय

यह साहित्य जिस भाषा में निबद्ध किया गया है उसका नाम है 'सस्कृत भाषा', या देववाणी या सुर भारती। ससार की समस्त परिष्कृत भाषाओ में सस्कृत ही प्राचीनतम है, इस विषय मे विद्वानो मे किसी प्रकार का मतभेद नहीं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि में ससार की भाषाओं मे दो ही भाषाएँ ऐसी हैं जिसके बोलने वालों ने सस्कृति तथा सभ्यता का निर्माण किया है एक है 'आर्यभाषा और दूसरी है सामी या 'सेमेटिक भाषा'। आर्य भाषा के अन्तर्गत दो विशिष्ट शाखाएँ हैं—पश्चिमी और पूर्वी। पश्चिमी शाखा के अन्तर्गत

योरप की सभी प्राचीन तथा आधुनिक भाषाएँ सम्मिलित हैं—ग्रीक, लैटिन, ट्यूटानिक, फ्रेंच, जर्मन, इंग्लिश आदि। ये सब भाषाएँ मूल आर्य-भाषा से ही उत्पन्न हुई हैं। पूर्वी शाखा में दो प्रधान विभाग हैं—ईरानी और भारतीय। ईरानी भाषा का नाम ‘जेन्द अवस्ता’ है जिसमें पारसियों के मूल धार्मिक ग्रन्थ लिखे गये हैं। भारतीय-शाखा में संस्कृत ही सर्वस्व है। आर्यभाषाओं में यही सबसे प्राचीनतम है। आर्य-भाषा के मूलरूप को जानने के लिये जितना साधन यहाँ है उतना कहीं नहीं है। आजकल भारत की समस्त प्रान्तीय भाषाएँ (द्राविड़ी भाषाओं को छोड़कर) संस्कृत भाषा से ही निकली हैं।

संस्कृत शब्द ‘सम्’ पूर्वक ‘कृ’ धातु से बना हुआ है जिसका मौलिक अर्थ है—संस्कार की गई भाषा। भाषा के अर्थ में ‘संस्कृत’ का प्रयोग वाल्मीकीय रामायण में पहले-पहल मिलता है। सुन्दरकाण्ड में सीताजी से किस भाषा में वार्तालाप किया जाय? इसका विचार करते हुए हनुमानजी ने कहा है कि यदि द्विज के समान मैं संस्कृतवाणी बोलूँगा तो सीता मुझे रावण समझकर डर जायगी[1]। यास्क और पाणिनि[2] के ग्रन्थों में लोक-व्यवहार में आनेवाली बोली का नाम केवल ‘भाषा’ है। ‘संस्कृत’ शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं मिलता। जब ‘भाषा’ का सर्वसाधारण में प्रचार कम होने लगा और पालि तथा प्राकृत भाषाएँ बोल-चाल की भाषाएँ बन गईं, तब जान पड़ता है विद्वानों ने प्राकृत भाषा से भेद दिखलाने के लिये इसका नाम संस्कृत भाषा दे दिया। महाकवि दण्डी के समर्थन से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। दण्डी (सप्तम शतक) ने प्राकृत भाषा से भेद दिखलाने के अवसर पर ‘संस्कृत’ का प्रयोग भाषा के लिए स्पष्टत किया है—

संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।

—काव्यादर्श १।३३

---

[1] यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥ सुन्दरकाण्ड ५।१४

[2] भाषायामन्वध्यायञ्च। निरुक्त १।४।
‘भाषायां सदवसश्रुवः’। अष्टा० ३।२।१०८

यह वाल्मीकि रामायण से चला आने वाला परम्परा का अनुसरण है, क्योंकि लोक व्यवहार में प्रचलित भाषा के रूप में प्राकृत का उदय वाल्मीकि-युग की घटना है। इसका अनुमान हनुमानजी के पूर्वोक्त निर्देश से स्पष्ट सिद्ध होता है।

संस्कृत भाषा के दो रूप हमारे सामने प्रस्तुत हैं—वैदिकी तथा लौकिकी वेदभाषा तथा लोकभाषा। वैदिक भाषा में संहिता तथा ब्राह्मणों की रचना हुई है। लौकिक संस्कृत में वाल्मीकीय रामायण, महाभारत आदि की रचना है। इन दोनों भाषाओं के शब्दरूपों में पर्याप्त अन्तर है जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

लौकिक और वैदिक संस्कृत में अन्तर

(१) अकारान्त पुंलिंग शब्दों का प्रथमा बहुवचन रूप असस् और अस् दो प्रत्ययों के जोड़ने से बनता है। जैसे, ब्राह्मणास तथा ब्राह्मणा। लौकिक संस्कृत में केवल अन्तिम रूप ही ग्राह्य है।

(२) अकारान्त शब्दों का तृतीया बहुवचन दो प्रकार का होता है—देवेभिः तथा देवैः। लौकिक संस्कृत में अन्तिम रूप ग्राह्य है।

(३) अकारान्त शब्दों का प्रथमा द्विवचन 'आ' प्रत्यय के योग से और इकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का तृतीया एकवचन 'इ' प्रत्यय के योग से बनता है जैसे, अश्विना (अश्विनौ) सुष्टुना (सुष्टुत्या)।

(४) सप्तमी का एकवचन अनेक जगहों में लुप्त हो जाता है जैसे परमे व्योमन्। लौकिक संस्कृत है—व्योम्नि या व्योमनि।

(५) अकारान्त नपुंसक शब्दों का बहुवचन 'आ' तथा 'आनि' दो प्रत्ययों के योग से बनता है, जैसे 'विश्वानि अद्भुता' (लौकिक संस्कृत में अद्भुतानि होगा)।

(६) क्रियापदों में उत्तम पुरुष बहुवचन (वर्तमान काल) 'मसि' प्रत्यय के योग से बनता है। भिनीमसि द्यवि द्यवि। लौकिक संस्कृत 'भिनीमः'।

(७) 'लोट्' लकार (आज्ञा) मध्यमपुरुष बहुवचन के प्रत्यय हैं— त, तन, थन, तात्। जैसे शृणोत, सुनोतन, यतिष्ठन, कृणुतात्।

८) लौकिक संस्कृत में क्रियार्थक क्रिया के लिए 'तुमुन्' का प्रयोग होता है जैसे—गन्तुम् (जाने के लिए) कर्तुम् (करने के लिये) आदि। परन्तु वेद में इस अर्थ में लगभग ८ या १० प्रत्यय होते हैं। जैसे से, असे, कसे, वध्यै, शध्यै आदि। जैसे, जीवसे (जीवितुम्) पिबध्यै (पातुम्) दातवै (दातुम्) कर्तवै (कर्तुम्)।

(९) वैदिक भाषा में आज्ञा तथा सम्भावना दिखलाने के लिये एक नये लकार की ही योजना है जिसे लेट् लकार कहते हैं। परन्तु यह लौकिक संस्कृत में बिलकुल ही नहीं है। इसके कुछ उदाहरण ये हैं—प्र ण आयूंषि तारिषत् (हे वरुण, हमारे उम्र को बढ़ाओ) यहाँ 'तारिषत्' लेट् लकार है। लौकिक भाषा में इसकी जगह पर 'तारय' कहेंगे।

'ब्राह्मणों' की भाषा लौकिक एवं वैदिक युग की मध्यकालीन भाषा है। उसमें कुछ प्रयोग तो संहिताओं के समान मिलते हैं और कुछ प्रयोग लौकिक संस्कृत के। निरुक्त की भाषा भी इसी काल की है। पाणिनि संस्कृत साहित्य के सबसे श्रेष्ठ वैयाकरण हैं। उन्होंने संस्कृत भाषा को विशुद्ध तथा व्यवस्थित बनाये रखने के लिये प्रसिद्ध व्याकरण बनाया है, जो आठ अध्यायों में विभक्त होने के कारण 'अष्टाध्यायी' कहलाता है। संस्कृत भाषा में जो एकरूपता और व्यवस्था दीख पड़ती है, वह सब पाणिनि की ही अनुकम्पा का फल है। कुछ लोग पाणिनि पर यह दोष लगाते हैं कि उन्होंने भाषा को जकड़ कर अस्वाभाविक बना दिया परन्तु बात ऐसी नहीं है। यदि पाणिनि का व्याकरण न रहता तो संस्कृत भाषा में देश-काल के वैशिष्ट्य से इतना रूपान्तर होता कि उसे हम पहचान भी नहीं सकते। अष्टाध्यायी के ऊपर 'कात्यायन' ने वार्त्तिक लिखा जिसमें उन्होंने नये प्रयुक्त शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई। विक्रम-पूर्व द्वितीय शतक में पतञ्जलि ने 'अष्टाध्यायी' के ऊपर 'भाष्य' लिखा जो इतना सुन्दर, उपादेय तथा प्रामाणिक है कि उसे 'महाभाष्य' के नाम से पुकारते हैं। लौकिक संस्कृत के कर्ता-धर्ता ये ही तीन मुनि हैं जिनके कारण व्याकरण 'त्रिमुनि' के नाम से विख्यात है। पिछले युग

में संस्कृत व्याकरण के ऊपर जो कुछ लिखा गया वह केवल इस 'मुनित्रय' के ग्रन्थों का व्याख्यानमात्र है। कुछ लोगों का कथन है इस 'मुनि त्रय' के द्वारा व्याख्यात तथा विवृत होने के कारण से ही यह देववाणी 'संस्कृत' नाम से अभिहित की जाती है।

संस्कृत बोलचाल की भाषा

संस्कृत के स्वरूप का विचार करते समय यह जानना जरूरी है कि लोक-व्यवहार में उसका क्या रूप था। वह बोलचाल की भाषा थी या नहीं? इसके विषय में दो विरोधी मत हैं। कुछ लोगों का कहना है कि प्राकृत ही बोल-चाल की भाषा थी। संस्कृत तो केवल साहित्यिक भाषा है जिसका प्रयोग ग्रन्थों में ही होता था, बोलचाल में नहीं। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि यह बोल-चाल की भी भाषा रही है। किसी समय में भारतीय जनता अपने भावों को इसी भाषा के द्वारा प्रकट किया करती थी। धीरे धीरे प्राकृत के उदय होने से इसका व्यवहार क्षेत्र कम होने लगा परन्तु फिर भी इसका चलन तथा व्यवहार शिष्ट लोगों में बना ही रहा।

महर्षि यास्क ने निरुक्त नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है जिसमें कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई गई है। इस ग्रन्थ का प्रमाण संस्कृत को बोलचाल की भाषा सिद्ध कर रहा है[1]। वैदिक संस्कृत से भिन्न साधारण जनता की जो बोली थी उसको यास्क ने स्थान स्थान पर 'भाषा' कहा है। उन्होंने वैदिक कृदन्त शब्दों की व्युत्पत्ति उन धातुओं से बतलाई है जो लोकव्यवहार में आते थे। उस समय भिन्न भिन्न प्रान्तों में संस्कृत शब्दों के जो रूपान्तर तथा विशिष्ट प्रयोग काम में लाये जाते थे उन सबका उल्लेख यास्क ने किया है। उदाहरणार्थ 'शवति' क्रियापद का प्रयोग कम्बोज देश (वर्तमान पंजाब का पश्चिमोत्तर-प्रान्त) 'जाने' के अर्थ में किया जाता था, परन्तु इसका संज्ञा पद 'शव' (मुर्दा) का प्रयोग आर्य लोग भिन्न अर्थ में करते थे। पूर्वी प्रान्तों (प्राच्य) में 'दाति' क्रियापद का प्रयोग 'काटने' के अर्थ में होता था परन्तु उत्तर के लोगों में इसी से बने हुए 'दात्र'

---

[1] भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमा कृतो भाष्यन्ते—निरुक्त २।२

शव-शब्द का प्रयोग क्रिया के अर्थ में होता था।[1] इससे स्पष्ट है कि यास्क के समय में (विक्रम से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व) संस्कृत बोलचाल की भाषा थी।

पाणिनि के समय में (विक्रम-पूर्व पाँच सौ) संस्कृत का यही रूप बना ही रहा। पाणिनि भी इस बोली को 'भाषा' ही के नाम से पुकारते हैं। दूर से पुकारने के समय तथा प्रत्यभिवादन के अवसर पर पाणिनि ने प्लुत स्वर का विधान बतलाया है। यदि दूर से कृष्ण को पुकारना होगा तो संस्कृत में 'आगच्छ कृष्ण ३' कहना पड़ेगा। यहाँ पाणिनि के अनुसार कृष्ण का अकार प्लुत होगा[2]। इसी प्रकार अभिवादन करने के अनन्तर जो आशीर्वाद दिया जायगा वहाँ पर भी प्लुत करना पड़ेगा। जैसे देवदत्त नामक कोई छात्र गुरु को इस प्रकार प्रणाम करे 'आचार्य देवदत्तोऽहं त्वामभिवादये' (हे गुरु जी! मैं देवदत्त आपको प्रणाम करता हूँ) तो गुरु यह कह कर आशीर्वाद देगा—'आयुष्मान् एधि देवदत्त ३' अर्थात् आयुष्मान् बनो, हे देवदत्त। इस आशीर्वादवाक्य में देवदत्त के अन्त का अकार प्लुत हो जायगा, यह पाणिनि की व्यवस्था[3] है। इन नियमों का प्रयोग तभी होगा जब भाषा वस्तुतः बोली जाती होगी। निरुक्तकार के समान पाणिनि ने संस्कृत के उन रूपान्तरों को भी दिखलाया है जो पूर्वी तथा उत्तरी लोगों में व्यवहृत किये जाते थे। बोलचाल के बहुत से मुहावरे पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में दिये हैं जैसे 'दण्डा-दण्डि' (डण्डा डण्डी, लाठा-लाठी) केशाकेशि (नोचा नोची, बालों को खींचकर होने वाला युद्ध) हस्ताहस्ति (हाथा-हाथी या हाथा-पाई), उदरपूरं भुङ्क्ते (पेटभर खाता है) इत्यादि। इतना ही नहीं, पाणिनि ने शब्दों में स्वर-विधान के नियम को बड़े विस्तार के साथ दिया है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि की भाषा बोलचाल

---

[1] शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते, विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु—निरुक्त, २।२।

[2] दूराद्धूते च—अष्टाध्यायी ८।२।८४

[3] प्रत्यभिवादेऽशूद्रे ८।२।८३

की भाषा थी। यदि ग्रंथ के लिखने में ही उसका उपयोग होता तो पूर्वोल्लिखित नियमों की उपयोगिता किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होती।

पाणिनि के अनन्तर कात्यायन के समय (विक्रमपूर्व चतुर्थ शतक) में तथा पतञ्जलि के समय में (विक्रमपूर्व द्वितीय शतक) संस्कृत भाषा व्यवहार में बढ़ती चली गई। नये-नये शब्द आने लगे, नये नये मुहावरों का प्रयोग होने लगा, इसी लिये कात्यायन ने वार्तिक लिखकर उनकी व्युत्पत्ति और व्यवस्था दिखला दी। पाणिनि ने 'हिमानी' तथा 'अरण्यानी' का प्रयोग केवल स्त्रीलिंग की कल्पना में माना है परन्तु कात्यायन के समय में विशिष्ट अर्थ में इनका प्रयोग होने लगा[1]। 'अरण्यानी' का अर्थ हुआ बड़ा जंगल। इसी प्रकार कात्यायन के समय 'यवनानी' का प्रयोग यवनों की लिपि के अर्थ में होने लगा[2]। पाणिनि के समय में तो यवन की स्त्री के लिए ही इसका प्रयोग होता था।

पतञ्जलि ने भी अपने महाभाष्य में नये प्रयोगों की प्रक्रिया दिखलाई है। संस्कृत शब्दों के प्रान्तीय रूपान्तरों का उल्लेख उन्होंने भी किया है। जैसे 'चलने' के अर्थ में सुराष्ट्र (काठियावाड़) देश में 'हम्मति' का प्रयोग करते हैं, प्राच्य देश में 'रहति' का, आर्य लोगों में गच्छति का। पतञ्जलि ने ऐसे लोगों को 'शिष्ट' बतलाया है जो बिना किसी अध्ययन के ही संस्कृत भाषा का प्रयोग करते[3] थे। इनके जो प्रयोग होते थे वह सर्वसाधारण के लिये प्रमाणभूत माने जाते थे। महाभाष्य ने एक बड़ा रोचक संवाद दिया है जिसमें 'प्राजिता' (चलानेवाला) शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में वैयाकरण तथा सारथि में खूब वादविवाद हुआ है। वैयाकरण ने पूछा—इस रथ का प्रवेता' कौन है? सूत—आयुष्मन्,

---

[1] हिमारण्ययोर्महत्त्वे—४।१।४९ पर वार्तिक।

[2] यवनाल्लिप्याम्। ४।१।४९ पर वार्तिक।

[3] एतस्मिन् आर्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणा किंचिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारगतास्तत्रभवन्तः शिष्टाः। शिष्टाः शब्देषु प्रमाणम्—६।३।१०९ सूत्र पर भाष्य।

मैं इस रथ का प्राजिता (चलाने वाला) हूँ। वैयाकरण—'प्राजिता' शब्द अपशब्द है। सूत—(देवानां प्रिय) महाशयजी, आप केवल प्राप्तिज्ञ हैं, इष्टिज्ञ (प्रयोग ज्ञाता) नहीं हैं। वैयाकरण—अहो, यह दुष्ट सूत (दुरुत) हमें कष्ट पहुँचा रहा है। सूत—आप का 'दुरुत' प्रयोग ठीक नहीं है। 'सूत' शब्द √सू (प्रसव, उत्पन्न करना) धातु से बना है, √'वेञ्' धातु (बिनना) से नहीं। अतः यदि आप निन्दा करना चाहते हैं तो 'दुःसूत' शब्द का प्रयोग करें। इस वार्तालाप[1] से प्रतीत होता है कि सूत का कथन अधिक उपयुक्त है। वैयाकरण तो केवल सूत्रों को ही जानता है, वास्तव में प्रयुक्त शब्दों की उसे जानकारी नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि जिस भाषा को रथ हाँकने वाला समझे और बोले उसे बोलचाल की भाषा न कहना महान् अपराध होगा। मुहावरों से तो महाभाष्य भरा पड़ा है—उन मुहावरों से, जिनका प्रयोग हमारी ग्रामीण बोलियों में आज भी विद्यमान है चाहे खड़ी बोली में भले न दीख पड़े। पतंजलि ने कृ धातु के निर्मलीकरण (साफ सुथरा करना) अर्थ में प्रयुक्त होने का उल्लेख किया है। यथा पादौ कुरु (=पैर साफ करो), पृष्ठं कुरु (=पीठ को मीसो)[2]। “पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु’ का छाया हूबहू बनारसी बोली में इस प्रकार दीख पड़ती है—'गोड़ौ कइली मूड़ौ कइली तबु काम ना भइल।' अर्थ स्पष्ट है कि हर प्रकार की सेवा करने पर भी हमारा काम नहीं सरा। विक्रम के हजारों वर्ष पूर्व से लेकर विक्रम के उदय काल तक संस्कृत अवश्य बोलचाल की

---

[1] एवं हि कश्चिद् वैयाकरण आह—'कोऽस्य रथस्य प्रवेता' इति। सूत आह—'अहमायुष्मन् अस्य रथस्य प्राजिता' इति। वैयाकरण आह अपशब्द इति। सूत आह—प्राप्तिज्ञो देवानां प्रियः, न तु इष्टिज्ञः। इष्यत एतद् रूपमिति। वैयाकरण आह—अहो खल्वनेन दुरुतेन बाध्यामहे इति। सूत आह—न खलु वेञः सूतः, सुवतेरेव सूतः। यदि सुवतेः कुत्सा प्रयोक्तव्या दुःसूतेनेति वक्तव्यम्। (२।४।५६ सूत्र पर भाष्य।)

[2] करोतिरभूतप्रादुर्भावे दृष्टः निर्मलीकरणे चापि विद्यते। पृष्ठं कुरु पादौ कुरु उन्मृदानेति गम्यते। —१।३।१ पर भाष्य।

भाषा थी, इन प्रमाणों के आधार पर इसी परिणाम पर हम पहुँचते हैं। भारत के अनेक प्राचीन संस्कृत प्रेमी राजाओं ने यह नियम बना रखा था कि उनके अन्तःपुर में संस्कृत का ही प्रयोग किया जाय। राजशेखर ने विक्रम का नाम इस प्रसंग में निर्दिष्ट किया है। उज्जयिनी के राजा साहसाङ्क पदवीधारी विक्रमादित्य ने यह नियम बना रखा था कि उनके अन्तःपुर में संस्कृत भाषा ही बोली जाती थी (काव्यमीमांसा पृ० ५०)। धारानरेश राजा भोज (११ शतक) के समय में भी संस्कृत का बोलने तथा लिखने के लिए बहुत प्रयोग होता था। इन प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत ग्रन्थों में ही केवल प्रयुक्त होने वाली साहित्यिक भाषा न थी, प्रत्युत वह लोकभाषा थी, यद्यपि 'लोक' शब्द से हम साधारण जनता न समझ कर शिष्ट लोक ही मानते हैं।

इतिहास का कालविभाग

संस्कृत साहित्य का इतिहास अनेक काल-विभागों में बाँटा जा सकता है। पहला काल श्रुतिकाल है जिसमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् का निर्माण हुआ। इस काल में वाक्य रचना सरल, संक्षिप्त और क्रियाबहुल हुआ करती थी। दूसरा हुआ स्मृतिकाल जिसमें रामायण, महाभारत, पुराण तथा वेदांगों की रचना हुई। तीसरा वह है जिस समय पाणिनि के नियमों के द्वारा भाषा नितान्त संयत तथा सुव्यवस्थित की गई तथा काव्य-नाटकों की रचना होने लगी। इस काल को हम मोटे तौर से 'लौकिक संस्कृत का काल' कह सकते हैं। इस अल्पकाय इतिहास में इन तीनों के विस्तृत विवेचन के लिए स्थान नहीं है। अतः तीसरे काल का ही विशेष वर्णन यहाँ रहेगा। विषय की पूर्ति के निमित्त पूर्वकाल के साहित्य का सामान्य परिचय देकर ही हमें सन्तोष करना पड़ रहा है।

* * *

द्वितीय परिच्छेद

वैदिक साहित्य

महत्त्व

वेद हिन्दू धर्म के सर्वस्व हैं। वे हमारे सबसे प्राचीन धर्म ग्रन्थ हैं। भारत की धार्मिकता में जो कुछ निष्ठा देखी जाती है उसका मूल स्रोत वेद ही है। वेद महर्षियों के द्वारा अनुभव किये गये तत्त्वों के साक्षात् प्रतिपादक हैं। स्मृति तथा पुराण भी हमारे लिये मान्य हैं परन्तु वेद के अनुकूल होने के कारण से ही उनका इतना गौरव है। श्रुति और स्मृति में विरोध होने पर श्रुति को ही हम अधिक गौरव देते हैं। हमारे धर्म की परिभाषा भी यही है कि जो वस्तु वेद में विहित, इष्ट पदार्थों के उत्पन्न करने में साधक है वही धर्म है। अन्य दृष्टियों से भी वेदों का विशेष महत्त्व है। ये संसार के सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। आर्यों की सभ्यता और संस्कृति, समाज तथा धर्म के जानने का एकमात्र साधन यही उपलब्ध होता है। धर्म के विकास का पूर्ण निरूपण वेदों के अध्ययन से ही किया जा सकता है। वेद की भाषा सर्वथा प्राचीनतम है। आर्यभाषा के मूल स्वरूप जानने में वैदिक भाषा ही हमारी सहायता करती है।

विभाग

वेद के प्रधानतया दो विभाग हैं—संहिता और ब्राह्मण। मन्त्रों के समुदाय का नाम 'संहिता' है। ब्राह्मण ग्रन्थ में इन्हीं मन्त्रों की एक प्रकार से विस्तृत व्याख्या है। परन्तु विशेषतः यज्ञयाग का सविस्तार वर्णन ही इसका मुख्य उद्देश्य है। ब्राह्मण के तीन खण्ड हैं—(१) ब्राह्मण (२) आरण्यक (३) उपनिषद्। आरण्यक ग्रन्थ वे हैं जो जन साधारण से दूर जंगल में पढ़े जाते थे। इनमें यज्ञों के आध्यात्मिक रूप का विवेचन है। ब्राह्मण गृहस्थों के लिये उपादेय हैं, तो आरण्यक वानप्रस्थ आश्रम में जीवन बिताने वाले मनुष्यों

के लिये हितकर हैं। उपनिषदों से तात्पर्य ब्रह्म विद्या से है जिसके अनुशीलन करने से प्राणी संसार के प्रपञ्चों से छुटकारा पाकर अनन्त सुख का अधिकारी बनता है। उपनिषद् वैदिक साहित्य का अन्तभाग है। इसलिये उसे 'वेदान्त' के नाम से भी पुकारते हैं। उपनिषदों का सारांश भगवद्गीता है। ब्रह्मसूत्र में बादरायण व्यास ने उपनिषदों के सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप से दिखलाया है। ये ही तीनों ग्रन्थ—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता—प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रसिद्ध हैं। विषय की दृष्टि से वेद में दो विभाग हैं—कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक में प्रधानतया कर्म की विवेचना है। अतः ये कर्मकाण्ड के अन्तर्गत माने जाते हैं। उपनिषदों का प्रधान विषय ज्ञान का विवेचन करना है। अतः ये ज्ञानकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं।

चार संहितायें

किसी देवताविशेष की स्तुति में प्रयुक्त होनेवाले अर्थ का स्मरण करानेवाले वाक्य को 'मन्त्र' कहते हैं। ऐसे मन्त्रों के समुदाय 'संहिता' कहलाते हैं। संहितायें चार हैं—(१) ऋक् संहिता (२) यजुः संहिता (३) सामसंहिता (४) तथा अथर्व संहिता। इन संहिताओं का संकलन महर्षि वेदव्यास ने यज्ञ की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर किया। यज्ञ के लिये चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है—(१) होता (२) अध्वर्यु (३) उद्गाता (४) ब्रह्मा। 'होता' शब्द का अर्थ है पुकारने वाला। होता यज्ञ के अवसर पर विशिष्ट देवता के प्रशंसात्मक मन्त्रों का उच्चारण कर उस देवता का आह्वान करता है। उसके लिये आवश्यक मन्त्रों का संकलन जिस संहिता में किया गया है उसका नाम ऋक् संहिता या ऋग्वेद है। अध्वर्यु का काम यज्ञों का विधिवत् संपादन है। उसके लिये आवश्यक मन्त्रों का समुदाय यजुः-संहिता कहलाता है। 'उद्गाता' शब्द का अर्थ है उच्च स्वर में गानेवाला। उसका कार्य ऋचाओं के ऊपर स्वर लगाकर उन्हें मधुर स्वर में गाना होता है। इस कार्य के लिये सामवेद का संकलन किया गया। 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विज का काम यज्ञ का पूर्ण रूप से निरीक्षण करना है जिससे अनुष्ठान में

किसी प्रकार की त्रुटि न हो। ब्रह्मा को समग्र वेदों का ज्ञाता होना चाहिये पर उसका विशिष्ट वेद अथर्ववेद है।

त्रयी

वेद को 'त्रयी' के नाम से भी पुकारते हैं। इसका कारण यह है कि उसमें तीन वस्तुएँ प्रधानतया पाई जाती हैं—ऋक्, साम और यजु। पाद से युक्त छन्दोबद्ध मन्त्रों को ऋक् या ऋचा कहते हैं। इन् ऋचाओं के गायन को साम कहते हैं। इन दोनों से पृथक् गद्यात्मक वाक्यों को यजु कहते हैं। वेद ऋक्, यजु और साम के रूप में विभक्त है। इसीलिए वह 'त्रयी' के नाम से भी अभिहित होता है।

१

वैदिक संहितायें

ऋग्वेद

इन चारों संहिताओं में ऋग्वेद संहिता सबसे प्राचीन मानी जाती है। अन्य संहिताओं में ऋग्वेद के अनेक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। सामवेद तो पूरा का पूरा ऋग्वेद के मन्त्रों से ही बना हुआ है। ऋग्वेद एक ग्रन्थ न होकर एक विशालकाय ग्रन्थसमूह है। भाषा तथा अर्थ की दृष्टि से वैदिक साहित्य में भी यह अनुपम माना जाता है। इसके दो प्रकार के विभाग उपलब्ध होते हैं—(१) अष्टक अध्याय और सूक्त (२) मण्डल, अनुवाक और सूक्त। पूरा ऋग्वेद आठ भागों में विभक्त है जिन्हें 'अष्टक' कहते हैं। प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं। इस प्रकार पूरे ऋग्वेद में आठ अष्टक अथवा चौसठ अध्याय हैं। यह विभाग पाठक्रम के सुभीते के लिये किया गया प्रतीत होता है। दूसरा विभाग इससे कहीं अधिक ऐतिहासिक तथा महत्त्वशाली है। इस विभाग में समग्र ऋग्वेद दश खण्डों में विभक्त है जिन्हें 'मण्डल' कहते हैं। मण्डल में संगृहीत मन्त्र-समूह को 'सूक्त' कहते हैं। इन सूक्तों के खण्डों को ऋचाएँ कहते हैं। ऋग्वेद में सूक्तों की संख्या 'खिल सूक्तों' को मिलाकर १०२८ है तथा मन्त्रों की संख्या ११ हजार के लगभग (अर्थात् १०,५८०) है।

वेदों को हम लोग ऋषियों के द्वारा 'दृष्ट' मानते हैं। ऋषि शब्द का अर्थ ही देखने वाला है। यास्क ने ऋषियों को इसलिये मन्त्र का द्रष्टा माना है। ऋग्वेद के ऋषिगण भिन्न-भिन्न कुटुम्बों से सम्बद्ध हैं। एक कुल के ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों का संग्रह एक मण्डल में किया गया है। प्रथम मण्डल और दशम मण्डल में तो नाना कुटुम्बों के ऋषियों के मन्त्र हैं परन्तु द्वितीय से लेकर सप्तम तक प्रत्येक में एक ही कुटुम्ब के ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों का संकलन है। इन ऋषियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) गृत्समद (२) विश्वामित्र (३) वामदेव (४) अत्रि (५) भारद्वाज (६) वसिष्ठ—जो क्रमशः द्वितीय से लेकर सप्तम मण्डल तक से सम्बद्ध हैं। अष्टम मण्डल में काण्व वंश और अङ्गिरा गोत्र के ऋषियों के मन्त्र हैं। नवम मण्डल में सोम-विषयक मन्त्रों का ही संकलन है। सोम का नाम है 'पवमान' अर्थात् पवित्र करनेवाला। सोम विषयक होने से ही इस मण्डल का नाम 'पवमान मण्डल' है। दशम मण्डल के मन्त्र नाना ऋषिकुलों से सम्बद्ध हैं, इसमें केवल देवताओं की स्तुति नहीं है, अपि तु अन्य विषयों का भी सन्निवेश है। दूसरे से लेकर सातवें मण्डल तक ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है। दशम मण्डल पूरे ऋग्वेद में अर्वाचीन माना जाता है।

सामवेद

कहा गया है कि सामवेद का संकलन उद्गाता ऋत्विक् के निमित्त किया गया है। यज्ञ के अवसर पर जिस देवता के लिए होम किया जाता था, उसे बुलाने के लिए उद्गाता उचित स्वर में उस देवता का स्तुति-मन्त्र गाता था। गायन को साम कहते हैं। ये ऋचाओं के ऊपर ही आश्रित हैं। ऋचायें ही गाई जाती हैं। इसलिए समग्र सामवेद में ऋचायें ही हैं। इनकी संख्या १५४९ है जिनमें केवल ७५ ऋचायें ही स्वतन्त्र हैं जो ऋक्संहिता में उपलब्ध नहीं होतीं। इसलिए सामवेद की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जाती। साम संहिता के दो भाग हैं—(१) पूर्वार्चिक (२) उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक को छन्दः, छन्दसी अथवा छन्दसिका कहते हैं। विषयानुसार इस खण्ड की ऋचायें ४ भागों में विभक्त की गई हैं—(क) आग्नेय पर्व (अग्नि के विषय में ऋचायें) (ख) ऐन्द्र, (ग) पवमान (सोम-विषयक मन्त्र), (घ) आरण्यक पर्व।

दूसरा खण्ड 'उत्तरार्चिक' के नाम से प्रख्यात है। इसमें विषय के अनुसार कई उपखण्ड हैं जिनमें इन अनुष्ठानों का निर्देश किया गया है—(१) दशरात्र, (२) संवत्सर, (३) ऐकाह, (४) अहीन (५) सत्र, (६) प्रायश्चित्त और (७) क्षुद्र। इनके गायनों में सात स्वरों का प्रयोग किया जाता है। सामगान का मूल यहाँ उपलब्ध होता है। उस प्राचीनकाल में संगीत की इतनी उन्नति भारतीय संगीत के उदात्त विकास की सूचना देता है।

यजुर्वेद

गद्य को 'यजुः' कहते हैं। इस वेद में उन गद्य वाक्यों का समूह है जिनका उपयोग अध्वर्यु यज्ञ के अवसर पर किया करता है। यज्ञ का वास्तव क्रियात्मक अनुष्ठान 'अध्वर्यु' ही करता है। अतः इस वेद का सम्बन्ध यज्ञानुष्ठान के साथ सबसे अधिक है। इसके दो भेद हैं—कृष्ण यजुः और शुक्लयजुः। इस नामकरण के विषय में एक साम्प्रदायिक कथा पुराणों में दी गई है। वेदव्यास ने यजुर्वेद अपने शिष्य वैशम्पायन को सिखलाया जिन्होंने इसे याज्ञवल्क्य ऋषि को पढ़ाया। किसी कारण गुरु अपने शिष्य से रुष्ट हो गए और पठित विद्या को उनसे माँगने लगे। याज्ञवल्क्य ने पठित यजुषों को वमन कर दिया। तब अन्य शिष्यों ने तित्तिर का रूप धारण कर उन्हें चुग लिया। यही कृष्णयजु हुआ। उधर याज्ञवल्क्य ने सूर्य की आराधना कर नवीन यजुषों को उत्पन्न किया। यही हुआ शुक्ल यजुर्वेद। इन दोनों के रूप में महान् अन्तर है। शुक्लयजुः में केवल मन्त्रों का ही संग्रह है जिसमें विनियोगवाक्य नहीं हैं। अतः ब्राह्मण से अमिश्रित होने के कारण यह 'शुक्ल' कहा जाता है। परन्तु कृष्णयजुर्वेद में छन्दोबद्ध मन्त्र तथा गद्यात्मक विनियोगों का मिश्रण है। इसी मिलावट के कारण इसे कृष्णयजुर्वेद कहते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद की संहिता वाजसनेयी संहिता कहलाती है क्योंकि सूर्य ने वाजी (घोड़े) का रूप धारण कर इसका उपदेश दिया था। इसमें ४० अध्याय हैं जिनकी रचना विशिष्ट यज्ञों को ध्यान में रखकर की गई है। इस वेद की दो प्रधान शाखायें हैं—माध्यन्दिन और काण्व। पहली शाखा उत्तरीय भारत में उपलब्ध है और दूसरी शाखा महाराष्ट्र में मिलती है। इन शाखाओं की संहितायें भिन्न हैं, पर भिन्नता अधिक नहीं है।

कृष्ण यजुर्वेद की भी अनेक शाखायें थीं आजकल केवल चार शाखायें प्राप्त हैं जिनके अनुसार इस वेद की संहितायें निम्न रूप से हैं—

(१) तैत्तिरीय संहिता—यही प्रधानतया प्रसिद्ध शाखा है। इसमें सात खण्ड हैं जिन्हें अष्टक या खण्ड कहते हैं। प्रत्येक काण्ड में कतिपय अध्याय हैं जिन्हें प्रश्न या प्रपाठक कहते हैं। ये प्रश्न अनेक अनुवाकों में विभक्त हैं।

(२) मैत्रायणी संहिता ⎫ ये दोनों संहितायें तैत्तिरीय से मिलती
(३) काठक संहिता ⎭ हैं। क्रम में यत्र तत्र अन्तर है।

(४) कठ कापिष्ठल संहिता—अभी तक केवल आधी ही उपलब्ध हुई है और उतनी ही प्रकाशित है (पंजाब से)।

कृष्ण यजुर्वेद में भी यज्ञों का ही वर्णन है। शुक्ल यजु से अन्तर यही है कि इन यज्ञों का क्रम दोनों स्थानों पर भिन्न भिन्न रूप से है।

अथर्ववेद

अथर्ववेद में यज्ञभागों का सम्बन्ध बहुत ही कम है। इसमें मारण, मोहन, उच्चाटन आदि अभिचार क्रियाओं का विशेष वर्णन है। अथर्व ऋषि के द्वारा दृष्ट होने के कारण इसे अथर्व संहिता कहते हैं। यह संहिता बीस खण्डों में विभक्त है जिन्हें 'काण्ड' कहते हैं। काण्डों के भीतर प्रपाठक, अनुवाक, सूक्त तथा मन्त्र का सन्निवेश क्रमशः किया गया है। इस प्रकार अथर्ववेद में २० काण्ड, ३४ प्रपाठक, १११ अनुवाक ७३१ सूक्त तथा ५८४६ मन्त्र हैं। इनमें लगभग बारह सौ ऋचायें ऋग्वेद से ली गई हैं। इस वेद का लगभग छठाँ भाग गद्य में है। आदि के १२ काण्डों में मारण मोहनादि क्रियाओं का सम्बन्ध है। १४ वें काण्ड में विवाहविषयक मन्त्र हैं। १८ वाँ काण्ड श्राद्ध-विषयक है तथा २० वें काण्ड में सोमयाग का वर्णन है। इन काण्डों के प्रायः समस्त मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं।

ऋग्वेद में भिन्न भिन्न देवताओं के विषय में स्तुतियाँ हैं। निरुक्त के रचयिता महर्षि यास्क ने स्थान की दृष्टि से देवताओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—पृथिवीस्थान, अन्तरिक्षस्थान तथा द्युस्थान। पृथ्वी

देवता

में रहने वाले देवताओं में अग्नि सबसे बढ़कर हैं। ऋग्वेद के सबसे अधिक मन्त्र इसी अग्नि के विषय में हैं। अन्तरिक्ष में रहने वाले देवताओं में इन्द्र का स्थान तथा आकाश में रहने वाले देवताओं में सूर्य, सविता या विष्णु आदि और देवताओं का स्थान महत्त्वपूर्ण है। वरुण का स्थान इन देवताओं में बहुत बड़ा है। इस जगत में जो नियम दिखलाई पड़ता है वह वरुण के कारण है। वे सर्वज्ञ हैं, प्राणियों के शुभ और अशुभ कर्मों के देखने वाले हैं तथा अनुरूप फलों के दाता हैं। इन्द्र संग्राम में आर्य लोगों को विजय प्रदान करने वाले देवता हैं। इन्द्र के हाथ में वज्र रहता है जिसकी सहायता से वे वृत्र आदि दानवों को मार भगाते हैं और शत्रुओं के नगरों को छिन्न भिन्न कर देते हैं। इन्द्र वृष्टि के देवता हैं। विष्णु उस सूर्य के प्रतिनिधि हैं जो सदा क्रियाशील रहता है। उन्होंने तीन पगों से इस विश्व को नाप डाला है। इसलिये वे 'विक्रम' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वैदिक देवियों में 'उषा' की कल्पना कवित्वपूर्ण है। ऋषियों ने सोने के रथ पर चढ़कर निकलने वाली चमकीली उषा के वर्णन में ऊँची प्रतिभा का परिचय दिया है। वेद के ये ही प्रधान देवता हैं।

प्राकृतिक दृश्यों को देखकर आर्य लोगों के हृदय में जो कल्पना जगी, वही देवता के रूप में वर्णित की गई है। इस प्रकार देवता प्राकृतिक दृश्यों के ही प्रतिनिधि हैं, परन्तु इतना ही नहीं है। वैदिक ऋषियों ने भिन्न आकार धारण करने वाले इस जगत् में सर्वत्र व्याप्त एक सत्ता का पता बहुत पहले लगाया था। उसी का नाम आत्मा या ईश्वर है। सब देवता लोग उसी सर्वव्यापी परमात्मा के भिन्न भिन्न प्रतीक हैं[1]।

* * *

---

[1] निरुक्त (७।४।८)—माहाभाग्यात् देवताया: एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

२

ब्राह्मण

संहिताओं के अनन्तर ब्राह्मण ग्रन्थों का समय आता है। इनका सम्बन्ध यज्ञ से है। यज्ञानुष्ठान का विस्तृत वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है। साथ ही साथ अनेक आख्यान, शब्दों की व्युत्पत्ति तथा प्राचीन राजाओं या ऋषियों की कथाएँ यहाँ मिलती हैं। इस प्रकार अनेक वेदाङ्गों के बीज इन ग्रन्थों में संनिहित हैं। प्रत्येक वेद की शाखा के अनुसार ब्राह्मण तथा आरण्यक भिन्न भिन्न हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं—(१) ऐतरेय और (२) कौषीतकि जिनमें ऐतरेय नितान्त प्रसिद्ध है। इसमें ४० अध्याय हैं। पाँच अध्यायों का एक समूह 'पञ्चिका' कहलाता है। इस प्रकार इसमें ८ पञ्चिकायें हैं। कौषीतकि ब्राह्मण में केवल ३० अध्याय हैं। ऋग्वेद के दो आरण्यक भी हैं—ऐतरेय आरण्यक तथा सांख्यायन आरण्यक। सामवेद से सम्बद्ध बहुत से ब्राह्मण हैं जिनमें 'ताण्ड्य' ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ है। यह २५ अध्यायों में विभक्त विपुलकाय ग्रंथ है और इसी लिये इसको 'पञ्चविंश' ब्राह्मण भी कहते हैं। कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक हैं। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण 'शतपथ ब्राह्मण' के नाम से विख्यात है, क्योंकि इसमें सौ अध्याय हैं। ऋग्वेद के अनन्तर यही ग्रंथ विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसमें यज्ञों का विस्तृत वर्णन तो है ही, साथ साथ अनेक प्राचीन आख्यान, व्युत्पत्ति तथा अनेक सामाजिक बातों का संग्रह है। अथर्ववेद का ब्राह्मण 'गोपथ ब्राह्मण' के नाम से विख्यात है। इसमें केवल दो खण्ड हैं जिनमें पहले में केवल पाँच अध्याय हैं, दूसरे में केवल छः। ब्राह्मण साहित्य में गोपथ ब्राह्मण कुछ अर्वाचीन माना जाता है।

३

उपनिषद्

उपनिषद् शब्द उप तथा नि उपसर्गक सद् धातु से बना हुआ है। 'सद्'

उपनिषद्

धातु के तीन अर्थ होते हैं—(१) विशरण=नाश होना (२) गति=प्राप्ति होना (३) अवसादन=शिथिल करना। उपनिषद् का मुख्य अर्थ अध्यात्म विद्या है जिसके अध्ययन करने से मुमुक्षु लोगों की अविद्या नष्ट हो जाती है, जो विद्या उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है तथा जिसके अभ्यास से गर्भवास आदि नाना प्रकार के दुःख शिथिल हो जाते हैं। इस प्रकार उपनिषद् के इस अर्थ में सद्धातु के तीनों अर्थ सुसङ्गत होते हैं। उपनिषद् का गौण अर्थ ब्रह्म-विद्या के प्रतिपादक ग्रंथ है। वैदिक साहित्य में उपनिषदों का स्थान सबसे अन्त में आता है। इसी लिये उन्हें 'वेदान्त' भी कहते हैं। मुक्तिकोपनिषद्[1] में १०८ उपनिषदों के नाम दिये गये हैं जिनमें १० उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध हैं, १९ शुक्ल यजुर्वेद से, ३२ कृष्ण यजुर्वेद से, १६ सामवेद से तथा ३१ अथर्ववेद से। परन्तु उपनिषदों की संख्या इससे भी कहीं अधिक है। इनमें ११ उपनिषद् बहुत ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इन उपनिषदों के नाम हैं—(१) ईश (२) केन (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तिरीय (८) ऐतरेय (९) छान्दोग्य (१०) बृहदारण्यक तथा (११) श्वेताश्वतर। वेदान्त के प्रसिद्ध आचार्यों ने इन सब उपनिषदों पर अपने मत को पुष्ट करने के लिये समय समय पर भाष्यों की रचना की है। इन उपनिषदों की रचनाशैली में भी भेद है। कुछ उपनिषद् गद्यात्मक हैं, कुछ पद्यात्मक तथा कतिपय गद्य-पद्यात्मक उभय रूप। इनके रचनाकाल के विषय में भी आलोचकों में बड़ा मतभेद है। इतना तो निश्चित ही है कि प्रधान उपनिषदों की रचना बुद्ध के आविर्भाव से बहुत पहले हो चुकी थी। छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक सब उपनिषदों से अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्राचीन स्वीकृत किये जाते हैं। विषय-वर्णन की दृष्टि से उपनिषदों का श्रेणी विभाग किया जा सकता है। कुछ उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय वेदान्त है जिसमें ब्रह्म तथा आत्मा के स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्ध का विवेचन है। कुछ योग-विषयक हैं, परन्तु उपनिषदों की महती संख्या विष्णु, शिव तथा शक्ति की उपासना का प्रतिपादन करती है।

उपनिषद् भारतीय अध्यात्मशास्त्र के देदीप्यमान रत्न हैं जिनकी प्रभा पर

काल का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। ज्यों ज्यों उनका सूक्ष्म अध्ययन किया जाता है, त्यों त्यों उनका जौहर प्रकट होता जाता है।

महत्त्व भारतीय महर्षियों ने अपने प्रातिभ चक्षु से जिन आध्यात्मिक तत्त्वों का साक्षात्कार किया था उन्हीं का भाण्डार उपनिषदों में भरा हुआ है। भारतीय सभ्यता को आध्यात्मिकता की ओर झुकाने का सारा श्रेय इन्हीं ग्रन्थ रत्नों को है। आज से बहुत पहले जिन विदेशी विद्वानों को भारतीय साहित्य के अध्ययन का अवसर मिला है उन्होंने उपनिषदों की शतमुख से प्रशंसा की है। १७ वीं शताब्दी में दाराशिकोह ने चुने हुए पचास उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद किया था। इसी अनुवाद का लैटिन भाषा में अनुवाद फ्रेंच विद्वान् 'ऑके त्वील दूपेरॉ' ने किया था। वह अनुवाद टूटा फूटा तथा अधूरा है। परन्तु इसी को पढ कर प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहोवर ने कहा था कि उपनिषद् मानव मस्तिष्क की सबसे ऊँची एव पूर्ण रचना है और मेरे जीवन में इन्हीं ग्रन्थों से वास्तव शान्ति मिली है। इसीलिये वह विद्वान् अपनी गुरुत्रयी मे प्लेटो और कैण्ट के साथ उपनिषदो को भी स्थान देता है। आजकल तो पाश्चात्य जगत् पर उपनिषदों का बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा है। शायद ही कोई सभ्य भाषा होगी जिसमें उपनिषदों का अनुवाद न मिलता हो।

उपनिषद् किसी एक शताब्दी की रचना न होकर अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास के फल हैं। अत उनमें भिन्न भिन्न और परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का मिलना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। परन्तु यह विरोध केवल ऊपरी है। भीतर प्रवेश करने पर एक तात्त्विक व्यवस्था मिलती है जिसके अनुसार इस जगत् की पहेली को भलीभाँति सुलझाने का मार्ग निर्दिष्ट किया गया है। उपनिषद् के अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने इस नानात्मक तथा सदा परिवर्तनशील जगत् के मूल में विद्यमान रहनेवाले शाश्वत पदार्थ को ढूँढ निकाला है। इस तत्त्व का नाम ब्रह्म है। जीवात्मा एव ब्रह्म के स्वरूप मे किसी प्रकार का भेद नहीं है। दोनों एक ही तत्त्व हैं। इस अभेद के ऊपर उपनिषदों ने खूब जोर दिया है। आत्मा नित्य वस्तु है, न कभी वह मरता है, न

कभी अवस्था आदि के कारण किसी दोष या विकार को प्राप्त करता है। वह इन्द्रियों से भिन्न है और मन बुद्धि तथा प्राणों से भी पृथक् है। उपनिषद् की मञ्जुल कल्पना के अनुसार यह शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ विषयरूपी मार्ग पर ले चलने वाले घोड़े हैं और आत्मा इस रथ का स्वामी है[1]। यह आत्मा और ब्रह्म मूलतः एक ही तत्त्व हैं। ब्रह्म के दो स्वरूप हैं सगुण और निर्गुण। सगुण रूप में वह इस जगत् को उत्पन्न करता है, स्थितिकाल में इसका प्राण-धारण करता है और प्रलय में अपने में लीन कर लेता है। निर्गुण रूप ही उसका श्रेष्ठ रूप है। ब्रह्म का प्रतिपादन शब्दों के द्वारा नहीं हो सकता। इसीलिये उपनिषदों ने उसके लिये 'नेति नेति' शब्द का प्रयोग किया है। इस ब्रह्म का साक्षात्कार उपनिषदों का चरम लक्ष्य है।

उपनिषद् वास्तव में वह आध्यात्मिक मानसरोवर हैं जिनसे भिन्न भिन्न ज्ञान-सरिताएँ निकल कर इस पुण्यभूमि आर्यावर्त्त में मनुष्यमात्र के सांसारिक अभ्युदय तथा पारलौकिक कल्याण के लिए प्रवाहित होता हैं। हिन्दू दर्शन में तीन प्रस्थान ग्रन्थ हैं जो वैदिक धर्म के अनुसार मार्ग तथा उसके साधन के प्रतिपादक हैं। इस प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत उपनिषद् ही प्रथम प्रस्थान के रूप में ग्रहण किया गया है। द्वितीय प्रस्थान भगवद्गीता है जो समस्त उपनिषद् रूपी धेनुओं का वत्सरूपी पार्थ के लिये भगवान् गोपाल कृष्ण के द्वारा दुहा हुआ सुधा सहोदर सारभूत दूध है[2]। तृतीय प्रस्थान बादरायण व्यास के द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र है जिसमें विरोधी प्रतीत होनेवाले उपनिषद् के वाक्यों का समन्वय और अभिप्राय ब्रह्म में दिखलाया गया है। इस प्रकार

---

[1] आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयान् तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ कठ—२।३

[2] सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधाभोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

गीता और ब्रह्म उपनिषदों पर ही आश्रित हैं। अतः उपनिषद् ही भारतीय दर्शन के मूल स्रोत हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसीलिए नवीन मत के संस्थापक आचार्यों ने अपने मत को प्रामाणिक तथा अक्षुण्ण सिद्ध करने के लिये इन तीनों ग्रन्थ-रत्नों पर, विशेषतः उपनिषदों पर, अपने मत के अनुकूल व्याख्याग्रन्थों की रचना की है।

४

वेदाङ्ग-साहित्य

ब्राह्मणकाल के अनन्तर सूत्रकाल का आरम्भ होता है। अब इस काल में हम श्रुति से हटकर स्मृति में आते हैं। इन ग्रन्थों की रचना भी बड़ी विलक्षण है। छोटे-छोटे अल्प अक्षरों के द्वारा विपुल अर्थों के प्रदर्शन का उद्योग किया गया है। यज्ञयाग का इतना अधिक विस्तार हो गया था कि इसे याद करने के लिये ऐसे छोटे छोटे ग्रन्थों की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस काल में जो ग्रन्थ रचे गये वे वेद के अर्थ तथा विषय को समझने के लिये नितान्त उपयोगी हैं। इसीलिये इन्हें वेद का अङ्ग या 'वेदाङ्ग' कहते हैं जो संख्या में छः हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष। इनमें व्याकरण वेद का मुख है, ज्योतिष नेत्र, निरुक्त श्रोत्र, कल्प हाथ, शिक्षा नासिका, छन्द दोनों पाद[1]। इस प्रकार वेदांग का वेद से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(१) शिक्षा—उन ग्रंथों को कहते हैं जिनकी सहायता से वेदों के उच्चारण का भली भाँति ज्ञान प्राप्त हो जाय। वेदपाठ में स्वरों का बड़ा महत्त्व है। स्वर में गलती होने के कारण से महान् अनर्थ हो जाता है।

---

[1] छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥
—पाणिनीय शिक्षा ४१–४२

अत स्वर का शिक्षा के लिए एक अलग वेदाङ्ग की रचना की गई। प्रत्येक वेद की अलग-अलग शिक्षा है। याज्ञवल्क्य शिक्षा शुक्ल यजुर्वेद की है और नारद शिक्षा सामवेद की है। पाणिनि की बनाई हुइ भी एक बहुत अच्छी शिक्षा है जो 'पाणिनीय शिक्षा कहलाती है।

(२) छन्द—छन्द का बिना ज्ञान प्राप्त किये हुए वेदमन्त्रो का ठीक-ठीक उच्चारण नहीं हो सकता। मन्त्र छन्दोबद्ध हैं। अतः छन्द का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। शौनक विरचित 'ऋक्प्रातिशाख्य' के अन्त म छन्दो का पर्याप्त विवेचन है। परन्तु इस वेदाग का एकमात्र स्वतन्त्र ग्रन्थ 'पिंगल' है जो किसी पिंगल नामक आचार्य के द्वारा रचा गया था। इस ग्रथ में वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का वर्णन मिलता है।

(३) निरुक्त—इस वेदाग में शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई गई है। वेद के अथ जानने के लिए शब्द व्युत्पत्ति की बडी आवश्यकता है। आजकल केवल एक ही निरुक्त उपलब्ध होता है और इसके रचयिता महर्षि यास्क हैं। बहुत प्राचीन काल से निघण्टु नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है जिसमें वेद के कठिन शब्दों की क्रमबद्ध तालिका है। इसी ग्रन्थ पर यास्क ने वह विस्तृत भाष्य बनाया जो निरुक्त' के नाम से प्रसिद्ध है। यास्क का मत है कि समस्त शब्द धातुओं से उत्पन्न हुए हैं। अतः उनकी व्युत्पत्ति दिखलाने का प्रयत्न भी इस ग्रन्थ में किया गया है। यास्क पाणिनि से पहले हुए। अतः इनका समय ईस्वी से पूर्व सात सौ वर्ष के लगभग होना चाहिए।

(४) व्याकरण—इस वेदाग का एकमात्र उद्देश्य वेदों क अर्थ को समझाना तथा वेदार्थ की रक्षा करना है। आजकल पाणिनि व्याकरण ही इस वेदाग का एकमात्र प्रतिनिधि है। परन्तु व्याकरण पाणिनि से भी पुराना है। पाणिनि ने आठ अध्यायों में सूत्ररूप मे व्याकरण लिखा है जो 'अष्टाध्यायी' के नाम से विख्यात है। उनके पहले भी गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भारद्वाज आदि अनेक आचार्य थे जिनका उल्लेख पाणिनि ने अष्टाध्यायी में किया है। इनसे भी पहले के 'प्रातिशाख्य' नामक ग्रन्थ हैं जिनमें स्वर और छन्द के साथ व्याकरण का भी विशेष वर्णन है। ऐसे ग्रथ प्रत्येक शाखा के

अलग अलग थे। आजकल ऋग्वेद से सम्बद्ध 'शौनक-प्रातिशाख्य' तथा शुक्ल यजु. का 'कात्यायन प्रातिशाख्य' विशेष प्रसिद्ध है। अन्य वेदों को भी प्रातिशाख्य मिलते हैं।

(५) ज्यौतिष—वेद के अंगों से इसका विशेष महत्त्व है। वेद यज्ञ के प्रतिपादन के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं और काल के उचित निवेश से यज्ञ का सम्बन्ध है। इसीलिए ज्यौतिष को काल का विधायक शास्त्र कहते हैं। जो व्यक्ति ज्यौतिष को जानता है वह यज्ञ को जानता है[1]। इसका प्रतिनिधि 'वेदाङ्ग ज्यौतिष' है। इसके रचयिता का नाम 'लगध' है। इसके दो संस्करण उपलब्ध हैं—एक यजुर्वेद से सम्बद्ध और दूसरा ऋग्वेद से सम्बद्ध। याजुष ज्योतिष में ४३ श्लोक हैं तथा आर्च में केवल ३६। सामान्यतः श्लोक एक ही प्रकार के हैं। इसके कतिपय श्लोकों का अर्थ अभी तक ठीक ठीक नहीं लगता। 'सोमाकर' की प्राचीन टीका तथा सुधाकर द्विवेदी का नया 'सुधाकर' भाष्य प्रसिद्ध है।

(६) कल्पसूत्र—ब्राह्मण-काल में यज्ञ याग का इतना अधिक विस्तार हुआ कि उनके यथोचित ज्ञान के लिए कतिपय संक्षिप्त एवं पूर्ण परिचय देनेवाली रचनाओं की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी की पूर्ति कल्पसूत्रों द्वारा की गई। कल्पसूत्र दो प्रकार के हैं—श्रौतसूत्र तथा स्मार्तसूत्र। स्मार्तसूत्रों के दो भेद हैं—गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र। श्रौत शब्द का अर्थ है श्रुति (वेद) से सम्बद्ध यज्ञ-याग। अतः श्रौतसूत्रों में तीन प्रकार के अग्नियों (आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि) के आधान, अग्निहोत्र, दर्श तथा पूर्णमास नामक इष्टियाँ, पशुयाग विशेषतः भिन्न प्रकार के सोमयागों का वर्णन किया गया है। श्रौतसूत्रों में इस प्रकार भारतीय याग-पद्धति का मूलस्वरूप जानने के लिए सबसे प्राचीन तथा पर्याप्त सामग्री है। गृह्यसूत्रों में उन अनुष्ठान, आचार तथा यागों का वर्णन है जिसका करना प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ के

---

[1] वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्यौतिषं वेद स वेद यज्ञान्॥
—आर्च ज्यौतिष श्लो० ३६।

लिए आवश्यक है। विशेषतः षोडश संस्कारों का वर्णन गृह्यसूत्रों में बड़े विस्तार से है जिनमें उपनयन तथा विवाह का वर्णन बड़े ही साङ्गोपाङ्ग रूप में किया गया है। इन ग्रन्थों के अध्ययन करने से प्राचीन भारतीय समाज के घरेलू आचार विचार का भिन्न भिन्न प्रान्तों के रीति रिवाज का परिचय पूर्णरूप से हो जाता है। पश्चिमी जातियों में से ग्रीक और रोमन लोग काफी पुराने हैं। उनका साहित्य भी कम विशाल या व्यापक नहीं है, परन्तु उनके यहाँ भी ऐसी रचना बहुत ही कम हैं जिनसे उनके रहन सहन का प्रामाणिक परिचय प्राप्त हो सके। इस प्रकार गृह्यसूत्रों का उपयोग हमारे ही लिए नहीं है प्रत्युत समाजशास्त्र तथा जातिशास्त्र (एथ्नोलॉजी) के प्रत्येक विद्वान् के लिए है। गृह्यसूत्रों के साथ धर्मसूत्र भी सम्बद्ध हैं। इन सूत्रों में धार्मिक नियमों, प्रजा के तथा राजा के कर्तव्य और अधिकार का पूरा पूरा वर्णन मिलता है। साथ ही साथ चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) तथा चारों आश्रम (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, सन्यास) के धर्म या कर्तव्यों का पूर्ण वर्णन किया गया है। इन्हीं धर्मसूत्रों से आगे चलकर स्मृतियों की उत्पत्ति हुई जिनकी व्यवस्था आज भी हमारे लिए मान्य है। शुल्बसूत्र भी कल्पसूत्र के ही अङ्ग हैं। उनका साक्षात् सम्बन्ध श्रौतसूत्रों से है। शुल्ब का अर्थ है मापसूत्र अर्थात् नापने का डोरा। नाम के अनुरूप शुल्बसूत्रों में वेदियों का नापना, उनके लिए स्थान चुनना तथा उनकी रचना आदि विषयों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। ये सूत्र भारतीय ज्यामिति के प्राचीन ग्रन्थ हैं। इतना ही नहीं, जिस सिद्धान्त के आविष्कार करने का श्रेय पाश्चात्य विद्वान् ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक पाइथेगोरस को देते हैं उसकी स्थापना उनसे सैकड़ों वर्ष पहले इन शुल्बसूत्रों में प्रमाणपुरःसर की गई है।

ऋग्वेद के कल्पसूत्र हैं—आश्वलायन और साख्यायन। दोनों कल्पसूत्रों में श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र दोनों सम्मिलित हैं। शुक्लयजुर्वेद के कल्पसूत्र हैं—कात्यायन श्रौतसूत्र, पारस्करगृह्यसूत्र और कात्यायन शुल्बसूत्र। कृष्ण यजुर्वेद की बौधायन और आपस्तम्ब शाखा में जो कल्पसूत्र उपलब्ध होते हैं उन्हें हम समग्र तथा महत्त्वपूर्ण कह सकते हैं क्योंकि उनमें श्रौत, गृह्य, धर्म और शुल्बसूत्र—चारों पूर्णरूप से पाये जाते हैं। इनमें परस्पर इतना अधिक

सम्भव है कि यदि हम इन्हें एक ही ग्रन्थ के भिन्न भिन्न खण्ड कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

सामवेद से सम्बद्ध कल्पसूत्र हैं—लाट्यायन और द्राह्यायण के श्रौतसूत्र तथा जैमिनि शाखा से सम्बद्ध जैमिनीय श्रौतसूत्र और जैमिनि गृह्यसूत्र, गोभिल और खादिर के गृह्यसूत्र। सामवेद के ही अन्तर्गत 'आर्षेय कल्प' की भी गणना की जाती है। इसका दूसरा नाम मशककल्पसूत्र है जिसमें साम के गायनों के भिन्न भिन्न रागों तथा लयों का वर्णन है। यह सूत्र पञ्चविंश ब्राह्मण के साथ सम्बद्ध है और लाट्यायन श्रौतसूत्र से भी प्राचीन प्रतीत होता है। अथर्ववेद के कल्पसूत्र के अन्तर्गत दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—(१) वैतान श्रौतसूत्र (जो विशेष प्राचीन नहीं माना जाता) तथा (२) कौशिक सूत्र (जो गृह्यसूत्र होते हुए भी अथर्ववेद में वर्णित अभिचारों से सम्बद्ध नाना प्रकार के अनुष्ठानों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है) प्राचीन भारत के अभिचारों को जानने के लिए इससे अधिक उपयोगी कोई अन्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

अनुक्रमणी—वेदांगसाहित्य के ही अंतर्गत उन अनुक्रमणियों का उल्लेख आवश्यक है जिनकी रचना वेदों की रक्षा तथा वेदार्थ की मीमांसा के लिए की गई है। आर्षानुक्रमणी में ऋग्वेद के मन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों के नाम मन्त्रक्रम से दिये गये हैं। छन्दोऽनुक्रमणी में ऋग्वेद में प्रयुक्त छन्दों का क्रमशः वर्णन है। देवतानुक्रमणी में ऋग्वेद के देवताओं का मन्त्रक्रम से खूब विस्तृत विवेचन है। शौनक का 'बृहद्देवता' भी इस विषय का एक प्रामाणिक तथा उपादेय ग्रन्थ है जिसमें ऋग्वेद के देवताओं का क्रमशः वर्णन तो है ही, साथ ही साथ उनसे सम्बद्ध अनेक प्राचीन आख्यानों तथा कथानकों का भी अत्यन्त उपादेय और रोचक विवरण यहाँ मिलता है। कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी' भी इस विषय की प्रसिद्ध पुस्तक है जिसपर 'षड्गुरुशिष्य' का भाष्य (द्वादश शतक) अत्यन्त उपयोगी तथा प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में अनेक अनुक्रमणियों में आये हुए विषयों का संक्षिप्त विवेचन है। इस प्रकार वेद तथा वेदार्थ की रक्षा के लिए अनुक्रमणी-साहित्य की रचना पिछली शताब्दियों में की गई।

इस प्रसंग में हम उस विद्वान को नहीं भुला सकते जिनके भाष्यों की सहायता से ही हम वेद के विषम दुर्ग में प्रवेश पा सके हैं। वेद की भाषा, उसकी शब्दावली, उसकी नवीन रूपकमयी कल्पना आदि इतनी विचित्र है कि बिना सायण की व्याख्या का अध्ययन किये इन्हें जान लेना नितान्त दुष्कर है। ये सायणाचार्य[1] विजयनगर राज्य के संस्थापक महाराज बुक्क प्रथम (१३५०–७६ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी महाराज हरिहर (१३७६–९९ ई०) के राज्यकाल में दक्षिण भारत में उत्पन्न हुए थे। इन्हीं राजाओं की छत्रछाया में इन्होंने अपने भाष्यों की रचना की है। सायण के भाष्य ऋग्वेद, तैत्तिरीय संहिता, काण्व संहिता, साम संहिता, अथर्वसंहिता—अर्थात् माध्यन्दिन संहिता को छोड़कर समग्र संहिताओं पर हैं। ब्राह्मण साहित्य में ऐतरेय ब्राह्मण तथा ऐतरेय आरण्यक, तैत्तिरीय ब्राह्मण और आरण्यक, पञ्चविंश ब्राह्मण जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथों पर भी इनके भाष्य विद्यमान हैं।

५

वेदों का रचनाकाल

वेदों के निर्माणकाल का यथातथ्य निर्णय करना नितान्त दुष्कर कार्य है। विद्वानों की गहरी छानबीन करने पर भी यह प्रश्न आज भी इदमित्थं रूप से निर्णीत नहीं हो पाया है और न भविष्य में ही निर्णय की कोई सम्भावना है। भारतीय दृष्टि से वेद अपौरुषेय हैं, नित्य हैं, कालातीत हैं और इसीलिए उनकी रचना के काल—निरूपण का अवसर ही नहीं आता, परन्तु पश्चिमी विद्वानों में इस प्रश्न की विवेचना में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है।

---

[1] सायणाचार्य के विशेष विवरण के लिए देखिए—बलदेव उपाध्याय रचित आचार्य सायण और माधव' पृ० ८३–११४। प्र० साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

डा० मैक्समूलर का मत

सबसे पहिले १८५९ ई० में प्रोफेसर मैक्समूलर ने इस प्रश्न के निर्णय का प्रथम प्रयास किया। उनकी दृष्टि में ऋग्वेद की रचना १२०० विक्रमपूर्व में सम्पन्न हुई थी। बुद्ध-धर्म के उदय से पहिले ब्राह्मण ग्रथों का निर्माण हो चुका था, क्योंकि ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में विस्तृत रूप से वर्णित याग-विधान बुद्ध की तीक्ष्ण आलोचनाओं का प्रधान विषय था और उपनिषदों में विवेचित अनेक अध्यात्मतत्व उनके लिए सर्वथा ग्राह्य थे। वैदिक साहित्य की बुद्ध धर्म के उदय से पूर्वभाविता को दृढ आधार—शिला मानकर मैक्समूलर ने अपना सिद्धान्त निर्णीत तथा पुष्ट किया है। उन्होंने वैदिक युग को चार कालविभागों में विभक्त किया है—छन्द काल, मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल तथा सूत्रकाल और प्रत्येक युग की विचार धारा के उदय तथा ग्रथ निर्माण के लिए उन्होंने २०० वर्षों का काल माना है। अत बुद्ध के प्रथम होने से सूत्रकाल का प्रारम्भ ६०० विक्रम पूर्व माना गया है। इस काल में श्रौत (कात्यायन, आपस्तम्ब आदि) तथा गृह्यसूत्रों की निर्मिति प्रधानरूपेण अंगीकृत की जाती है। इसके पूर्व ब्राह्मणकाल था जिसमें भिन्न भिन्न ब्राह्मण ग्रथों की रचना, यागानुष्ठान का विपुलीकरण, उपनिषदों के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का विवेचन आदि सम्पन्न हुआ। इसके विकास के लिये ८०० वि पू —६०० वि पू तक दो सौ सालों का काल उन्होंने माना है। इससे पूर्ववर्ती मन्त्रयुग के लिए जिसमें मन्त्रों का याग-विधान की दृष्टि से चार विभिन्न संहिताओं में संकलन किया गया, १००० वि पू से लेकर ८०० वि पू का समय स्वीकृत किया गया है। इससे भी पूर्ववर्ती कल्पना तथा रचना की दृष्टि से नितान्त श्लाघनीय युग—छन्द काल—था जिसमें ऋषियों ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर अर्थगौरव से भरे हुए मन्त्रों की रचना की थी। मैक्समूलर के हिसाब से यही मौलिकता का युग था, कमनीय कल्पनाओं का यही काल था जिसके लिए १२००–१००० वि पू का काल उन्होंने माना है। ऋग्वेद का यही काल है। अत बुद्ध के जन्म से पीछे हटते-हटते हम ऋग्वेद के काल तक सुगमता से पहुँच जाते हैं। इस मत के अनुसार ऋग्वेद की रचना आज से लगभग ३२०० वर्ष पूर्व की गई थी।

किसी प्रतिष्ठित विद्वान् की चलाई कल्पना, चाहे वह अत्यन्त निराधार भी क्यों न हो, जब एक बार चल निकलती है, तब विन्ध्य की बरसाती नदियों की धारा की तरह रोके नहीं रुकती। वह अपने सामने सब प्रकार की विघ्न-बाधाओं को, प्रबल विरोधों को, दूर हटाती सरकती हुई चली ही जाती है। ठीक यही घटना इस कल्पना के साथ भी घटी। मैक्समूलर ने जिसे एक सामान्य सम्भावना के रूप से अग्रसर किया था उसे ही उनका सिक्का मानने वाले लोगों ने एक मान्य वैज्ञानिक तथ्य के रूप में ग्रहण कर लिया परन्तु तीस बरस पीछे १८८९ ई० भौतिक धर्म विषयक अपनी गिफोर्ड व्याख्यान-माला के अवसर पर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि इस भूतल पर कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है जो कभी निश्चय कर सके कि वैदिक मन्त्रों की रचना १००० या १५०० या २००० या ३००० वि० पू० में की गई हो। इसकी पुष्टि में इतना ही उन्होंने माना कि ऋग्वेद की यही पिछली सीमा है जिसके पीछे ऋग्वेद का काल कथमपि नहीं लाया जा सकता। परन्तु इसकी ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया कि भाषा तथा विचारों के विकास के लिए दो सौ वर्षों का काल नितान्त काल्पनिक, अपर्याप्त तथा अनुचित है।

वेद में ज्योतिष तत्त्व

वेदों की संहिता तथा ब्राह्मणों में निर्दिष्ट ज्योतिष-सम्बन्धी सूचनाओं का अनुशीलन कर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक तथा जर्मनी के विख्यात विद्वान् डा० याकोबी ने वेदों का काल विक्रमपूर्व चार सहस्र वर्ष निश्चित किया है। उनके प्रमाणों को समझने के लिए ज्योतिष सम्बन्धी सामान्य तथ्यों से परिचय नितान्त आवश्यक है।

पाठक जानते हैं कि एक वर्ष के अन्दर ६ ऋतुयें होती हैं—वसन्त, ग्रीष्म वर्षा, शरद्, हेमन्त तथा शिशिर। इन ऋतुओं का आविर्भाव सूर्य के संक्रमण पर निर्भर रहता है। यह बात सुविख्यात है कि प्राचीन काल से लेकर आजतक ऋतुयें पीछे हटती चली जा रही हैं अर्थात् प्राचीन काल में जिस नक्षत्र के साथ जिस ऋतु का उदय होता था, आज वही ऋतु उस नक्षत्र से पूर्ववर्ती नक्षत्र के समय आकर उपस्थित होती है। प्राचीन

काल में वसन्त से वर्ष का प्रारम्भ माना जाता था। इसीलिए वसन्त भगवान् की विभूति माना जाता है—'ऋतूनां कुसुमाकरः'—गीता। आजकल 'वसन्त सम्पात' (वर्नल इक्विनाक्स) मीन की संक्रान्ति से आरम्भ होता है और यह संक्रान्ति पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र के चतुर्थ चरण से आरम्भ होती है, परन्तु यह स्थिति धीरे धीरे नक्षत्रों के एक के बाद एक के पीछे हटने से हुई है। किसी समय वसन्त सम्पात उत्तरा भाद्रपद, रेवती, अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा आदि नक्षत्रों में था जहाँ से यह क्रमशः पीछे हटता हुआ आज वर्तमान स्थिति पर पहुँच पाया है। नक्षत्रों के पीछे हटने से ऋतु परिवर्तन तब लक्ष्य में भली भाँति आने लगता है जब वह एक मास पीछे हट जाता है। सूर्य के संक्रमण वृत्त को २७ नक्षत्रों में भारतीय ज्योतिषियों ने विभक्त कर रखा है। पूरा संक्रमण वृत्त ३६० अंशों का है। अतः प्रत्येक नक्षत्र (३६० – २७) = १३½ अंशों का एक चाप बनाता है। संक्रमण बिंदु को एक अंश पीछे हटने में ७२ वर्ष लगते हैं। अतः पूरे एक नक्षत्र पीछे हटने के वास्ते (७२ × १३½) ९७२ वर्षों का महान् काल लगता है। आजकल वसन्त सम्पात पूर्वाभाद्रपद के चतुर्थ चरण में पड़ता है अर्थात् जब वह कृत्तिका नक्षत्र में पड़ता था, तब से लेकर आजतक वह लगभग साढे चार नक्षत्र पीछे हट आया है। अतः ज्योतिष गणना के आधार पर कृत्तिका नक्षत्र में वसन्त-सम्पात का काल आज से (९७२ × ४½ = ४३०४) लगभग साढे चार हजार वर्ष पहले था अर्थात् २५०० वि० पू० के समय ज्योतिष की यह घटना सम्भवतः मोटे तौर पर घटी होगी।

वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मणों में अनेक स्थलों पर ऋतुसूचक तथा नक्षत्र-निर्देशक वर्णनों का प्राचुर्य पाया जाता है। महाराष्ट्र के विख्यात ज्योतिर्विद् पण्डित शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथ ब्राह्मण से एक महत्त्वपूर्ण अंश खोज निकाला है जिससे उस ग्रंथ के रचनाकाल के विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस वाक्य में कृत्तिकाओं के ठीक पूर्वीय बिन्दु पर उदय लेने का वर्णन है जहाँ से वे तनिक भी च्युत नहीं होतीं.—

एकं द्वे त्रीणि चत्वारि वा अन्यानि नक्षत्राणि, अथैता एव भूयिष्ठा यत् कृत्तिकास्तद् भूमानमेव एतदुपैति तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत। एता

हवैप्राच्यै दिशो न च्यवन्ते, सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते (शतपथ २।१।२)।

आजकल ये पूर्वीयबिन्दु से कुछ उत्तर ओर हटकर उदय लेती हैं। अतः दीक्षित जी की गणना के अनुसार ऐसी ग्रहस्थिति ३००० वि० पू० में हुई होगी जो शतपथ का निर्माणकाल माना जा सकता है। तैत्तिरीय संहिता जिसमें कृत्तिका तथा अन्य नक्षत्रों का वर्णन है निश्चयपूर्वक शतपथ से प्राचीन है। ऋग्वेद तैत्तिरीय से भी पुराना है। अब यदि प्रत्येक के लिए २५० वर्ष का अन्तर मान लें तो ऋग्वेद का समय ३५०० वि० पू० से इधर का कभी नहीं हो सकता। अतः दीक्षितजी के मत में ऋग्वेद आज से लगभग ५५०० (साढे पाँच हजार) वर्ष नियमत पुराना सिद्ध हो जाता है[1]।

लोकमान्य तिलक का मत

लोकमान्य की विवेचना के अनुसार यह समय और भी पूर्ववर्ती होना चाहिए। ऋग्वेद का गाढ अनुशीलन कर उन्होंने मृगशिरा नक्षत्र में वसन्त-सम्पात होने के अनेक निर्देशों को एकत्र किया। तैत्तिरीय संहिता का कहना है कि 'फाल्गुनी पूर्णिमा वर्ष का मुख है'। तिलकजी ने इस कथन का स्वारस्य दिखलाया है। यदि पूर्ण चन्द्रमा फाल्गुनी नक्षत्र में था, तो सूर्य अवश्यमेव मृगशिरा में रहेगा जब वसन्त सम्पात भी होगा। ऋग्वेद के भीतर ही अनेक आख्यायिकायें इस ग्रहस्थिति की सूचना देने वाली हैं। मृगशिरा की आकाश स्थिति का निर्देश अनेक मन्त्रों तथा आख्यानों में पूर्णतया अभिव्यक्त किया गया है जिसकी एक झलक कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल के आरम्भ में ही 'मृगानुसारिण साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम्' में उपमा के द्वारा दे दी है। मृगशिरा में वसन्त का समय कृत्तिका वाले समय से लगभग २००० वर्ष पूर्व अवश्य होगा क्योंकि मृगशिरा से कृत्तिका तक पीछे हटने में उसे दो नक्षत्रों को पार करना होगा (९७२ × २ = १९४४) अतः जिन मन्त्रों में

---

[1] शंकर बालकृष्ण दीक्षित—ज्योतिष शास्त्रा चा इतिहास (मराठी तथा हिन्दी, लखनऊ १९५८)

मृगशिरा के वसन्त सम्पात का उल्लेख किया गया है, उनका मोटे तौर से (२५०० + १९४४) ४५०० वि० पू० होना न्याय्य है। तिलकजी के अनुसार 'वसन्त सम्पात' के मृगशीर्ष से भी आगे पुनर्वसु नक्षत्र में होने का भी यथेष्ट सकेत ऋग्वेद में मिलते हैं।[1]

अदिति के देवमाता कहलाने का भी यही रहस्य है। पुनर्वसु नक्षत्र की देवता अदिति है[2]। अत अदिति का देवजननी कहने का स्वारस्य यही है कि पुनर्वसु नक्षत्र में वसन्त—सपात होने से वर्ष तथा देवयान का आरभ इसी काल से माना जाता था। पुनर्वसु ही उस समय नक्षत्र था। पुनर्वसु में सूर्य के सक्रमण होते ही देवताओ के पवित्र काल (उत्तरायण-देवयान) का आरम्भ होता था। यह काल दो नक्षत्र आगे हटकर होने के कारण मृगशिरा वाले समय से लगभग २००० वर्ष अवश्य पहले होगा अर्थात् तिलक जी के अनुसार यही अदिति-युग भारतीय सस्कृति का प्राचीनतम युग है। यह युग ६०००–४००० वि० पू० तक माना जा सकता है। इस काल की स्मृति किसी भी अन्य आर्य सस्कृति मे उपलब्ध नहीं होती। न तो ग्रीक लोगों की ही सभ्यता में, न पारसियो के धर्मग्रन्थो में इस सुदूर अतीत की झलक दीख पड़ती है। डाक्टर याकोबी इतना दूर जाना उचित नहीं मानते। उन्होंने गृह्यसूत्रों में उल्लिखित ध्रुवदर्शन के आधार पर स्वतन्त्र रूप से वेदो का समय विक्रमपूर्व चतुर्थ सहस्राब्दी माना है[3]।

इस प्रकार लोकमान्य ने समग्र वैदिककाल को चार युगों में विभक्त किया है :—

(१) अदिति काल (६०००–४००० वि० पू०) इस सुदूर

---

[1] द्रष्टव्य तिलकजी का 'ओरायन' नामक ग्रन्थ।

[2] दस्रो यमोऽनलो ब्रह्मा चन्द्रो रुद्रोऽदितिर्गुरु ।
क्रमान्नक्षत्र—देवता ॥

लघुसग्रह श्लो० ६१—६२

[3] इनके मत के लिए द्रष्टव्य डा० विन्टरनित्स—हिस्टरी आफ इण्डियन लिटरेचर, प्रथम भाग, पृष्ठ २९६–२९७।

प्राचीन-काल में उपास्य देवताओं के नाम, गुण तथा मुख्य चरित के वर्णन करनेवाले निविदों (यागसम्बन्धी निविद्वाक्यों) की रचना कुछ गद्य में और कुछ पद्य में की गई तथा अनुष्ठान के अवसर पर उनका प्रयोग किया जाता था ।

(२) **मृगशिरा काल** (लगभग ४०००—२५०० वि० पू०) आर्य सभ्यता के इतिहास में नितान्त महत्वशाली युग यही था, जब ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों का निर्माण किया गया । रचना की दृष्टिसे यह युग विशेषत क्रियाशील था ।

(३) **कृत्तिका काल** लगभग २५००—१८०० वि० पू०) इस काल में तैत्तिरीय संहिता तथा शतपथ आदि अनेक प्राचीन ब्राह्मणों का निर्माण सम्पन्न हुआ । वेदांग ज्योतिष की रचना इस युग के अन्तिम भाग में की गई, क्योंकि इसमें सूर्य और चन्द्रमा के श्रविष्ठा के आदि में उत्तर ओर घूम जाने का वर्णन मिलता है[1] और यह घटना १४०० वि० पू० के आस-पास गणित के आधार पर अंगीकृत की गई है ।

(४) **अन्तिमकाल** (१४००—५०० वि० पू०) एक हजार वर्षों के अन्दर श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, दर्शन सूत्रों की रचना हुई और बुद्धधर्म का उदय वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में इसके अन्तिम भाग में हुआ ।

नवीन अन्वेषणों से इस काल की पुष्टि भी हो रही है । सन् १९०७ ई० में डाक्टर ह्यूगो विकलर ने एशिया माइनर (वर्तमान टर्की) के 'बोघाजकोइ' नामक स्थान में खुदाई कर एक प्राचीन शिलालेख की प्राप्ति की । यह हमारे विषय के समर्थन में एक नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रमाण माना जाता है । पश्चिमी एशिया के इस खण्ड में कभी दो प्राचीन जातियों का निवास था—एक का

---

[1] प्रपद्यते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक्
सार्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघ श्रावणयो सदा । ६ ।

—ऋग्वेद ज्यो०

इसकी मीमांसा के लिए द्रष्टव्य गीतारहस्य पृ० ५८६,
वैद्य—हिस्ट्री आफ वैदिक लिटरेचर, भाग १, पृ० २५–२७

नाम था 'हिचिति' और दूसरे का 'मितानि। ईंटों पर खुदे इन लेखों से पता चलता है कि इन दोनों जातियों के राजाओं ने अपने पारस्परिक कलह के निवारण के लिए आपस में सन्धि की जिसमें सन्धि के संरक्षक रूप में दोनों जातियों के देवताओं की अभ्यर्थना की गई है। इन संरक्षक देवों की सूची में अनेक बाबुल देशीय तथा हिचिति जाति के देवताओं के अतिरिक्त मितानि जाति के देवों में मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्यौ (अश्विनौ) का नाम उपलब्ध होता है। मितानि नरेश का नाम 'मत्तिउजा' था और हिचिति राजा की विलक्षण संज्ञा थी 'सुब्बिलुलिउमा। दोनों में कभी घनघोर युद्ध हुआ था जिसके विराम के अवसर पर मितानि नरेश ने अपने शत्रु राजा की पुत्री के साथ विवाह कर अपनी नवीन मैत्री के ऊपर मानो मुहर लगा दी। इसी समय की पूर्वोक्त सन्धि है जिसमें चार वैदिक देवताओं के नाम मिलते हैं। अब प्रश्न है कि मितानि जाति के देवताओं में वरुण इन्द्र आदि देवों का नाम क्योंकर सम्मिलित किया जाता है? उत्तर में यूरोपीय विद्वानों ने विलक्षण कल्पनाओं की लड़ी लगा दी है। इन प्रश्नों का न्याय्य उत्तर यही है कि मितानि जाति भारतीय वैदिक आर्यों की एक शाखा थी जो भारत से पश्चिमी एशिया में आकर बस गई थी या वैदिक धर्म को मानने वाली एक आर्य जाति थी। उस प्राचीन काल में पश्चिमी एशिया तथा भारत का परस्पर सम्बन्ध अवश्यमेव ऐतिहासिक प्रमाणों पर सिद्ध किया जा सकता है। वरुण, मित्र, आदि चारों देवताओं का जिस प्रकार एक साथ निर्देश किया गया है उससे इनके 'वैदिक देवता' होने में तनिक भी संदेह नहीं है। 'इन्द्र' को तो पाश्चात्य विद्वान् भी आर्यावर्त में ही उद्भावित आर्यों का प्रधान सहायक देवता मानते हैं।

इस शिलालेख का समय १४०७ विक्रमी पूर्व है। इसका अर्थ यह है कि इस समय से बहुत पहिले आर्यों ने आर्यावर्त में अपने वैदिक धर्म तथा वैदिक देवताओं की कल्पना पूर्ण कर रखी थी। आर्यों की कोई शाखा पश्चिमी एशिया में भारतवर्ष से आकर बस गई और वहीं पर उन्होंने अपने देवता तथा धर्म का प्रचुर प्रचार किया। बहुत सम्भव है कि वैदिक देवताओं को मान्य तथा पूज्य मानने वाली यह मितानि जाति भी वैदिक

आर्यों की इस धारणा के अनुकूल थी। इस प्रकार आजकल पाश्चात्य विद्वान् भी वेदों का प्राचीनतम काल विक्रम पूर्व २०००–२५०० तक मानने लगे हैं परन्तु वेदों में उल्लिखित ज्योतिष सम्बन्धी बातों की युक्तियुक्तता तथा उनके आधार पर निर्णीत काल गणना में अब पाश्चात्य विद्वानों का भी विश्वास होने लगा है[1]। पर तिलकजी के पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धान्त को ही हम इस विषय में मान्य तथा प्रामाणिक मानते हैं।

(६) पुराण

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

भारतीय साहित्य में पुराणों का विशेष महत्त्व है। भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को साधारण जनता में प्रचारित करने का श्रेय इन्हीं पुराणों को है। आज भी हिन्दू धर्म के मूलाधार ये पुराण ही हैं। परन्तु बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि आजकल पाश्चात्य शिक्षा से दीक्षित भारतीय विद्वानों की दृष्टि इन पुराणों के प्रति बड़ी उपेक्षापूर्ण है। वे ज्ञान के इन भण्डार पुराणों को गप्प से अधिक महत्त्व नहीं देते। जब भारतीय विद्वानों की यह दशा है, तब पाश्चात्य विद्वानों का क्या पूछना? वे तो पुराणों को नितान्त कपोल-

---

[1] डा० अविनाशचन्द्र दास ने वेदों में निर्दिष्ट अनेक 'भूगर्भ' शास्त्र सम्बन्धी तथ्यों, विशेषतः आर्यावर्त के चारों ओर चतुः समुद्रों की स्थिति, के आधार पर वेदों का समय २५ हजार वर्ष पूर्व माना है। अत्यन्त प्राचीनकाल के पोषक इस सिद्धान्त पर विद्वानों की विशेष आस्था नहीं है। द्रष्टव्य अविनाशचन्द्र दास—ऋग्वेदिक इंडिया, प्रथम भाग, कलकत्ता, १९२१। डी० एन० मुखोपाध्याय—हिन्दू नक्षत्रज', कलकत्ता। बलदेव उपाध्याय—वैदिक साहित्य और संस्कृति, काशी, १९५६।

कल्पित ही समझते हैं। पुराणों में जो इतिहास वर्णित है, उसे वे पुरातन कथा (माइथोलाजी) मानते हैं तथा उन पर तनिक भी विश्वास नहीं करते। इन्हीं पश्चिमी विद्वानों के द्वारा फैलायी गई इस भ्रान्त धारणा के अनुसार पुराणों के प्रति लोगों की उपेक्षा की प्रवृत्ति चली आ रही थी। परन्तु हर्ष का विषय है कि अब भारतीय विद्वान् ही नहीं, पाश्चात्य मनीषी भी इसकी महत्ता समझने लगे हैं और भारतीय इतिहास के लिए इनको अमूल्य निधि मानने लगे हैं।

पुराण की कल्पना

'पुराण' शब्द का अर्थ 'पुराना आख्यान' है—'पुराणमाख्यानम्'। संस्कृत-साहित्य में 'पुराण' शब्द का अर्थ 'पुराना' है। सम्भवतः पुराणों की अत्यन्त प्राचीनता के कारण ही इनको यह नाम प्राप्त हुआ है। पुराणों में प्राचीन आख्यानों की ही विशेषता रही है। भारतीय साहित्य में पुराणों के साथ इतिहास का भी नाम आता है। इतिहास उन्हीं घटनाओं का वर्णन करता है, जो भूतकाल में हो गयी हैं, परन्तु पुराण का विषय इतिहास से अधिक व्यापक और विस्तृत है। इसी मौलिक पार्थक्य को लक्ष्य में रखकर इतिहास और पुराण का नामकरण अलग-अलग किया गया है।

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि हमारे शास्त्रों में पुराण की कैसी कल्पना की गयी है। मत्स्य, विष्णु तथा ब्रह्माण्ड आदि महापुराणों में पुराण का लक्षण बतलाते हुए लिखा है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

अर्थात् (१) सर्ग या सृष्टि, (२) प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय तथा पुनः सृष्टि, (३) सृष्टि की आदि की वंशावली, (४) मन्वन्तर अर्थात् किस-किस मनु का समय कब-कब रहा और उस काल में कौन-सी महत्त्व की घटना हुई तथा (५) वंशानुचरित—सूर्य तथा चन्द्रवंशी राजाओं का वर्णन—यही पुराणों के पाँच विषय हैं। यही लक्षण साधारणतया पुराणों का है। परन्तु ध्यान से देखने पर पता चलता

है कि पुराणों में इतनी ही बातों का वर्णन नहीं है, प्रत्युत इनसे भी बहुत अधिक बातें हैं। उदाहरण के लिये अग्निपुराण को ले लीजिये, यदि इसे हम 'भारतीय ज्ञानकोष' कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी। कुछ ऐसे पुराण हैं, जिनमें इन पाँचों विषयों का यथावत् वर्णन नहीं मिलता। फिर भी पुराण की सामान्य कल्पना यही समझनी चाहिये। हम लोगों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हमारे पुराण ही सच्चे तथा आदर्श इतिहास हैं। किसी मानव समाज का इतिहास तभी पूर्ण समझा जायगा जब उसकी कहानी सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्तमान काल तक क्रमबद्ध रूप से दी जाय। जब तक किसी देश की कथा सृष्टि के प्रारम्भ से न लिखी जाय, तबतक उसे अधूरा ही समझना चाहिये। इतिहास की इस वास्तविक कल्पना को पुराणों में हम पाते हैं। आधुनिक विद्वानों ने इतिहास लेखन शैली में इस प्रणाली की चिरकाल से उपेक्षा कर रखी थी, परन्तु हर्ष का विषय है कि इङ्गलैंड के सुप्रसिद्ध विचारशील विद्वान् एच० जी० वेल्स ने अपने इतिहास की रूप रेखा (आउटलाइन आफ हिस्ट्री) में इसी पौराणिक प्रणाली का अनुकरण किया है। उन्होंने अपने इस प्रसिद्ध इतिहास में मानव-समाज के इतिहास लिखने के पूर्व सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्य के विकास का इतिहास लिखा है। मनुष्य योनि को प्राप्त करने के पहले मानव को कौन सा रूप धारण करना पड़ा था ? तथा उसका क्रमिक विकास कैसे हुआ ? इसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन उन्होंने किया है। इस प्रकार यदि मनुष्य का इतिहास लिखना हो, तो सृष्टि के आरम्भ से ही उसके विकास की कथा लिखनी ठीक है। इतिहास लिखने का यही पौराणिक प्रकार आदर्श है।

पुराणों की दूसरी विशेषता उनकी 'वर्णन-शैली' है। कुछ लोग पुराणों में लिखी हुई किसी बात को लेकर उसे असम्भव मानकर कपोलकल्पित कहने का दुःसाहस कर बैठते हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हमारे शास्त्रों में वस्तु कथन के तीन प्रकार बतलाये गये हैं—जिन्हें आलंकारिक भाषा में तथ्य कथन, रूपक कथन तथा अतिशयोक्ति-कथन कह सकते हैं। जो वस्तु जैसी हो, उसे ठीक वैसा ही कहना तथ्य-कथन है और यह कथन वैज्ञानिक लोगों के लिये उपयुक्त है। जहाँ रूपकालङ्कार का आश्रय

लेकर कुछ कहा जाय, उसे 'रूपक कथन' कहते हैं और यह कथन-प्रणाली वेदों में पायी जाती है, जहाँ सूर्य की किरणों को उनमें पाये जानेवाले सात रंगों के कारण घोड़ों का रूपक दिया गया है। पुराणों में वस्तु-वर्णन के लिए अतिशयोक्ति अलंकार का आश्रय सदा लिया गया है तथा जो कुछ बात कही गयी है, उसे बड़ा ही विस्तृत रूप दिया गया है, जैसे—इन्द्र-वृत्र के युद्ध में वृत्र का राजा के रूप में विस्तृत कल्पना। इस प्रकार पुराणों में जहाँ कहीं कोई बात कही गयी है, वहाँ बड़े विस्तार से कही गयी है। अतः पौराणिक कथाओं के सम्बन्ध में इस कथन-प्रणाली पर ध्यान रख कर ही विचार करना चाहिये। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो पुराण शुद्ध तथा आदर्श इतिहास के रूप में ही हम लोगों को दिखायी पड़ेंगे।

पुराणों का काल

पुराणों के समय-निर्णय के लिए निम्नलिखित प्रमाणों पर ध्यान देना आवश्यक है —

(१) शङ्कराचार्य तथा कुमारिलभट्ट ने अपने ग्रंथों में पुराणों से उद्धरण दिये हैं। बाणभट्ट (६२५ ई०) ने हर्षचरित में इस बात का उल्लेख किया है कि उन्होंने अपने जन्मस्थान में वायुपुराण के कथापारायण को सुना था। कादम्बरी में भी उन्होंने 'पुराणेषु वायुप्रलपितम्' कह कर वायु-पुराण के अस्तित्व की सूचना दी है।

(२) पुराणों में कलयुग के राजाओं का जो वर्णन किया गया है उसकी परीक्षा भी समयनिरूपण करने में विशेष सहायक है। विष्णु पुराण में मौर्य वंश का प्रामाणिक विवरण दिया गया है। मत्स्य पुराण दक्षिण के आन्ध्र राजाओं का (लगभग २२५ ई०) प्रामाणिक इतिवृत्त प्रस्तुत करता है। वायुपुराण गुप्त राजाओं के प्रारंभिक साम्राज्य से परिचित है। अतः पुराणों की रचना का काल गुप्तकाल के अनन्तर कथमपि नहीं माना जा सकता।

(३) वर्तमान महाभारत और पुराणों का परस्पर सम्बन्ध एक विवेचनीय वस्तु है। महाभारत के यह वर्तमान रूप प्राप्त होने से भी पहले पुराणों का अस्तित्व था। महाभारत कथा के वक्ता उग्रश्रवा सूत लोमहर्षण

के पुत्र थे । पुराणों में पूर्ण रूप में निष्णात बतलाये गये हैं। लोमहर्षण भी पुराणों के विशेष ज्ञाता के रूप में प्रसिद्ध थे। हरिवंश में वायुपुराण के निर्देश ही नहीं मिलते, प्रत्युत वह वर्तमान वायुपुराण के साथ अनेक अंशों में पर्याप्त साम्य भी रखता है। बहुत से आख्यान तथा उपदेशात्मक श्लोक पुराणों तथा महाभारत में समान रूप में उपलब्ध होते हैं। डाक्टर लूडर्स ने इस बात को प्रमाणतः सिद्ध किया है कि ऋष्यशृङ्ग का जो आख्यान पद्मपुराण में मिलता है वह महाभारत में उपलब्ध आख्यान की अपेक्षा प्राचीन है। इस परीक्षा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत के वर्तमान संस्करण होने से बहुत ही पहले पुराण वर्तमान थे। और जो पुराण इस समय उपलब्ध हो रहे हैं उनमें भी बहुत सी सामग्री महाभारत की अपेक्षा कहीं अधिक पुरानी है।

(४) कौटिल्य का अर्थशास्त्र पुराणों से अच्छी तरह परिचित है। कौटिल्य का कथन है कि उन्मार्ग पर चलने वाले राजकुमारों का पुराणों का उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाना चाहिए। इतना ही नहीं, कौटिल्य ने पौराणिक को राज के अधिकारियों में अन्यतम स्थान दिया है। अतः पुराणों को कौटिल्य से प्राचीन मानना उचित है। परन्तु कौटिल्य के विषय में भी विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। कुछ लोग अर्थशास्त्र को ईसा के तीसरी शताब्दी की रचना मानते हैं। परन्तु अधिकांश विद्वानों की सम्मति है कि अर्थशास्त्र में चन्द्रगुप्त मौर्य की ही शासन पद्धति का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। अतः अर्थशास्त्र ईस्वी पूर्व तृतीय शतक की रचना है। अतः कहना पड़ेगा कि पुराणों की रचना ईस्वी—पूर्व तृतीय शतक से बहुत पहले ही हो चुकी थी।

(५) सूत्र-ग्रन्थों के अवलोकन से पुराणों के अस्तित्व का कुछ परिचय मिलता है। उस समय पुराण ग्रन्थ रूप में निबद्ध हो चुके थे और उनका स्वरूप वही था जिस रूप में वे आजकल हमें उपलब्ध हो रहे हैं। गौतम तथा आपस्तम्ब के प्राचीनतम धर्म-सूत्रों में पुराणों का उल्लेख है। गौतम धर्मसूत्र (११।१९) में लिखा है कि राजा को अपनी शासन व्यवस्था के लिए वेद, धर्मशास्त्र, वेदाङ्ग और पुराण को प्रमाण मानना चाहिए। वेद के समकक्ष

रखे जाने के कारण यहाँ पुराण से आख्यानविशेष का अर्थ निकाला जा सकता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में उपलब्ध निर्देश इससे कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण है। उसमें दो पद्य पुराण से उद्धृत किए गये हैं और तीसरा उद्धरण भविष्यत् पुराण से है। ये तीनों उद्धरण वर्तमान पुराणों में नहीं मिलते। परन्तु इन्हीं के समानार्थक श्लोक पुराणों में मिलते हैं। बहुत सम्भव है कि उस समय विरचित पुराणों का पुनः संस्करण पीछे किया गया हो। जो कुछ हो, सूत्रकाल में पुराणों की ग्रन्थरूप में सत्ता निःसन्दिग्ध सत्य है।

(६) उपनिषद् काल में भी पुराणों का उल्लेख हमें मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार और नारद के प्रसंग में तत्कालीन प्रचलित अनेक शास्त्रों का निर्देश उपलब्ध होता है। उसमें वेदों के अनन्तर पुराणों का भी उल्लेख किया गया है।[1]

(७) इससे भी महत्त्वपूर्ण उल्लेख स्वयं अथर्व संहिता का है[2]। अथर्व के एक मन्त्र के अनुसार उच्छिष्ट नाम से अभिहित परमपुरुष से चारों वेदों के अनन्तर पुराण की उत्पत्ति का निर्देश किया गया है। प्रसंग से प्रतीत होता है कि यहाँ पुराण शब्द से केवल पुराने आख्यान का अर्थ नहीं है, प्रत्युत ग्रन्थ-विशेष से है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पुराण का अस्तित्व वैदिक काल में भी था। ईस्वी से छः सौ वर्ष पूर्व वर्तमान काल में उपलब्ध होने वाले पुराणों के समान ही पुराण ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था। मूल पुराण उपलब्ध नहीं होता। पुराण किसी एक शताब्दी की रचना नहीं है। समय समय पर उनमें नये-नये अध्याय जोड़े गये थे। गुप्तकाल तक वे अपने वर्तमान रूप को प्राप्त कर चुके थे।

---

[1] ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्—छान्दोग्य ७।१।२

[2] ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥—अथर्व ११।७।२४

महापुराण

पुराणों की सख्या के विषय में मतभेद नहीं है। उनकी सख्या अठारह है[१]। यथा, मकरादि दो पुराण (१) मत्स्य और (२) मार्कण्डेय, भकारादि दो (३) भविष्य और (४) भागवत। ब्रयुक्त तीन पुराण (५) ब्रह्माण्ड, (६) ब्रह्मवैवर्त, तथा (७) ब्राह्म। वकारादि चार, (८) वामन, (९) वराह, (१०) विष्णु, (११) वायु (शिव)। (१२) अग्नि, (१३) नारद, (१४) पद्म, (१५) लिंग, (१६) गरुड, (१७) कूर्म तथा (१८) स्कन्द। इन पुराणों में भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना तथा महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। 'पद्मपुराण' में इन पुराणों को सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के अनुसार विभक्त किया है। विष्णु-विषयक पुराण सात्विक माने गये हैं। ब्रह्मा—विषयक राजस तथा शिव—विषयक तामस। इन महापुराणों के अतिरिक्त अठारह उपपुराण भी मिलते हैं जिनके नाम गरुड़ पुराण के आधार पर ये हैं—(१) सनत्कुमार, (२) नारसिंह, (३) स्कान्द, (४) शिव धर्म, (५) आश्चर्य, (६) नारदीय, (७) कापिल, (८) वामन, (९) औशनस, (१०) ब्रह्माण्ड, (११) वारुण. (१२) कालिका, (१३) माहेश्वर, (१४) साम्ब (१५) सौर (१६) पाराशर (१७) मारीच (१८) भार्गव। इन नामों के विषय में पर्याप्त मतभेद है। देवी—भागवत के अनुसार उपर्युक्त स्कान्द, वामन, ब्रह्माण्ड, मारीच और भार्गव के स्थान पर क्रमश शिव, मानव, आदित्य, भागवत और वासिष्ठ नाम मिलते हैं। कौन महापुराण है और कौन उपपुराण ? इस विषय में भी पर्याप्त मतभेद है।

---

[१] ये अठारह पुराण इस श्लोक में सकेतित हैं—

मद्वय भद्वय चैव ब्रत्रय वचतुष्टयम्।
अनापल्-लिंग-कूस्कानि पुराणानि प्रचक्षते।

महत्त्व

पुराणों का महत्व अनेक दृष्टियों से विशेष है। धार्मिक दृष्टि से पुराण वेदविहित धर्म का सरल सुबोध भाषा में वर्णन करता है। जब वेदों की भाषा सर्वसाधारण के समझने लायक न रह गई तब उनके तत्वों को जनता तक पहुँचाने के लिये पुराण बनाये गये। पुराणों का सामाजिक महत्व भी कम नहीं है। उस समय के भारतीय समाज का स्वरूप हमें पुराण के पृष्ठों में ही उपलब्ध होता है। पुराणों में प्राचीन इतिहास प्रामाणिक रूप से भरा हुआ है, ऐसी धारणा तो अब अंग्रेजी पढे लिखे विद्वानों की भी होने लगी है। पुराण में दिये गये इतिहास की पुष्टि शिलालेखों से, मुद्राओं से और विदेशियों के यात्रा विवरणों से, पर्याप्त मात्रा में होने लगी है। अत विद्वान् ऐतिहासिकों का कथन है कि यह पूरी सामग्री प्रामाणिक तथा उपादेय है। प्राचीन राजाओं के समान यदि हमें प्राचीन ऋषियों के जीवन वृत्त का परिचय प्राप्त करना हो तो पुराणों ही की शरण में जाना पडेगा। पुराणों का भौगोलिक मूल्य भी कम नहीं है। पुराणों में समग्र भारतीय तीर्थों का बडा विस्तृत विवेचन है जिससे हम इन स्थानों के विस्तृत भूगोल का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। काशीखण्ड स्कन्द पुराण का एक खण्ड है। इसमें काशी के स्थानों का और शिवलिंगों का बड़ा विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है जिसकी सहायता से हम प्राचीन काशी के प्रसिद्ध भागों का ज्ञान भली-भाँति प्राप्त कर सकते हैं। पुराणों को अतिशयोक्तिपूर्ण शैली के कारण ही सर्वसाधारण में पुराणों के प्रति अनास्था का भाव बना हुआ है। परन्तु पुराणों के तुलनात्मक अध्ययन से तथा उनके अन्तस्तल में प्रवेश करने पर उनके सच्चे इतिहास तथा सामाजिक वृत्त का परिचय प्रत्येक विद्वान् पुरुष को लग सकता है।

तृतीय परिच्छेद

उपजीव्य काव्य

वैदिक साहित्य के अनन्तर लौकिक संस्कृत में निबद्ध साहित्य का उदय होता है। लौकिक संस्कृत में लिखा गया साहित्य विषय, भाषा, भाव आदि की दृष्टि से अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। वैदिक भाषा में जो साहित्य निबद्ध हुआ है उस साहित्य से इनकी तुलना करने पर अनेक नवीन बातें आलोचकों के सामने आती हैं। यह साहित्य वैदिक साहित्य से आकृति, भाषा, विषय तथा अन्तस्तत्त्व की दृष्टि से नितान्त पार्थक्य रखता है।

१

वैदिक और लौकिक साहित्य का अन्तर

(क) विषय—वैदिक साहित्य मुख्यतया धर्मप्रधान साहित्य है। देवताओं को लक्ष्य कर यज्ञ-याग का विधान तथा उनकी कमनीय स्तुतियाँ इस साहित्य की विशेषताएँ हैं। परन्तु लौकिक संस्कृतसाहित्य, जिसका प्रसार प्रत्येक दिशा में दीख पड़ता है, मुख्यतया लोकवृत्त-प्रधान है। पुरुषार्थ के चारों अङ्गों में अर्थ-काम की ओर इसकी प्रवृत्ति विशेष दीख पड़ती है। उपनिषदों के प्रभाव से इस साहित्य के भीतर नैतिक भावना का महान् साम्राज्य है। धर्म का वर्णन भी है परन्तु वह धर्म वैदिक धर्म पर अवलम्बित होने पर भी कई बातों में कुछ नूतन भी है। ऋग्वेदकाल में जिन देवताओं की प्रमुखता थी अब वे गौणरूप से ही वर्णित पाये जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उपासना पर ही अधिक महत्त्व इस युग में दिया गया। नये देवताओं की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार प्रतिपाद्य विषय का अन्तर इस साहित्य में स्पष्ट दीख पड़ता है।

(ख) आकृति—लौकिक साहित्य जिस रूप में हमारे सामने आता है वह वैदिक साहित्य के रूप से अनेक अंशों में भिन्नता रखता है। वैदिक साहित्य में गद्य की गरिमा स्वीकृत की गई है। तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता मैत्रायणी संहिता में ही वैदिक गद्य आरम्भ होता है। ब्राह्मणों में गद्य ही का साम्राज्य है। प्राचीन उपनिषदों में भी उदात्त गद्य का प्रयोग मिलता है। परन्तु लौकिक साहित्य के उदय होते ही गद्य का ह्रास आरम्भ हो जाता है। वैदिक गद्य में जो प्रसार, जो प्रसाद तथा जो सौन्दर्य दीख पड़ता है वह लौकिक संस्कृत के गद्य में दिखलाई नहीं पड़ता। अब तो गद्य का क्षेत्र केवल व्याकरण और दर्शन शास्त्र ही रह जाता है। परन्तु वह गद्य दुरूह, प्रसादविहीन तथा दुर्बोध ही है। पद्य की प्रभुता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि ज्योतिष और वैद्यक जैसे वैज्ञानिक विषयों का भी वर्णन छन्दोमयी वाणी में ही किया गया है। साहित्यिक गद्य केवल कथानक तथा गद्यकाव्यों में ही दीख पड़ता है। परन्तु क्षेत्र के सीमित होने के कारण यह गद्य वैदिक गद्य की अपेक्षा कई बातों में हीन तथा न्यून प्रतीत होता है। पद्य की रचना जिन छन्दों में की गई है, वे छन्द भी वैदिक छन्दों से भिन्न ही हैं। पुराणों में तथा रामायण, महाभारत में विशुद्ध 'श्लोक' का ही विशाल साम्राज्य विराजमान है। परन्तु पिछले कवियों ने साहित्य में नाना प्रकार के छोटे बड़े छन्दों का प्रयोग विषय के अनुसार किया है। वेद में जहाँ गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती का प्रचलन है वहाँ उक्त संस्कृत में उपजाति, वंशस्थ और वसन्ततिलका विराजती है। लौकिक छन्द वैदिक छन्दों से ही निकले हुए हैं, परन्तु इनमें लघुगुरु के विन्यास को विशेष महत्त्व दिया गया है।

(ग) भाषा—भाषा की दृष्टि से भी यह साहित्य पूर्वयुग में लिखे गये साहित्य की अपेक्षा भिन्न है। इस युग की भाषा के नियामक तथा शोधक महर्षि पाणिनि हैं जिनकी अष्टाध्यायी ने लौकिक संस्कृत का विशुद्ध रूप प्रस्तुत किया। इस युग के आदिम काल में पाणिनि के नियमों की मान्यता उतनी आवश्यक नहीं थी। इसीलिये रामायण, महाभारत तथा पुराणों में बहुत से 'आर्ष' प्रयोग मिलते हैं जो पाणिनि के नियमों से ठीक नहीं उतरते।

पिछली शताब्दियों में तो पाणिनि तथा उनके अनुयायियों की प्रभुता इतनी जम जाती है कि 'अपाणिनीय' प्रयोग के आते ही भाषा अत्यधिक खटकने लगती है। 'च्युत-संस्कारता' के नित्यदोष माने जाने का यही तात्पर्य है। आशय यह है कि वैदिक काल में संस्कृत भाषा व्याकरण के नपे-तुले नियमों से जकड़ी हुई नहीं थी, परन्तु इस युग में व्याकरण के नियमों से बँधकर वह विशेष रूप से संयत कर दी गई है।

(घ) **अन्तस्तत्त्व**—वैदिक साहित्य में रूपक की प्रधानता है। प्रतीक रूप से अनेक अमूर्त भावनाओं की मूर्त कल्पना प्रस्तुत की गई है। परन्तु लौकिक साहित्य में अतिशयोक्ति की ओर अधिक अभिरुचि दीख पड़ती है। पुराणों के वर्णन में जो अतिशयोक्ति दीख पड़ती है वह पौराणिक शैली की विशेषता है। वैदिक तथा पौराणिक तत्त्वों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है, भेद शैली का ही है। वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध इन्द्र वृत्र युद्ध अकाल दानव के ऊपर वर्षा-विजय का प्रतिनिधि है। पुराणों में भी उसका यही अर्थ है परन्तु शैली भेद होने से दोनों में पार्थक्य दीख पड़ता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस युग में वैदिक युग से विकसित होकर अत्यन्त आदरणीय माना जाने लगा। ऐसी अनेक कहानियाँ मिलेंगी जिसका नायक कभी तो पशुयोनि में जन्म लेता है और वही कभी पुण्य के अधिक सञ्चय होने के कारण देवलोक में जा विराजने लगता है। साहित्य मानव समाज का प्रतिबिम्ब हुआ करता है। इस समय का परिचय लौकिक संस्कृत साहित्य के अध्ययन से भली भाँति मिलता है। मानवजीवन से सम्बद्ध तथा उसे सुखद बनानेवाला शायद ही कोई विषय होगा जो इस साहित्य से अछूता बच गया है। पूर्वकाल में जहाँ पर नैसर्गिकता का बोलबाला था, वहाँ अब अलंकृति की अभिरुचि विशेष बढ़ने लगी। अलंकारों की प्रधानता का यही कारण है।

२

इतिहास की कल्पना

लोगों में एक धारणा सी फैली हुई है कि भारतवर्ष के साहित्य में ऐतिहासिक ग्रन्थों का अस्तित्व नहीं है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है

कि भारतीय लोग ऐतिहासिक भावना से परिचित ही न थे। परन्तु ये धारणायें नितान्त निराधार हैं। भारतीय साहित्य में पुराणों के साथ इतिहास वेद के समकक्ष माना जाता है। ऋक्-संहिता में ही इतिहास से युक्त मन्त्र हैं[1]। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार से ब्रह्मविद्या सीखने के समय अपनी अधीत विद्याओं में नारद मुनि ने 'इतिहास-पुराण' को पञ्चम वेद बतलाया है[2]। यास्क ने निरुक्त में ऋचाओं के विशदीकरण के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ तथा प्राचीन आचार्यों की कथाओं को 'इतिहास-माचक्षते' ऐसा कहकर उद्धृत किया है। वेदार्थ के निरूपण करनेवाले विभिन्न सम्प्रदायों में ऐतिहासिकों का भी एक अलग सम्प्रदाय था इसका स्पष्ट परिचय निरुक्त से चलता है—'इति ऐतिहासिका'। इतना ही नहीं, वेद के यथार्थ अर्थ समझने के लिए इतिहास-पुराण का अध्ययन आवश्यक बतलाया गया है। व्यास का स्पष्ट कथन है कि वेद का उपबृंहण इतिहास और पुराण के द्वारा होना चाहिये, क्योंकि इतिहास-पुराण से अनभिज्ञ लोगों से वेद सदा भयभीत रहता है[3]। राजशेखर ने उपवेदों में इतिहास-वेद को अन्यतम माना है। कौटिल्य ने ही सबसे पहले 'इतिहास-वेद' की गणना अथर्ववेद के साथ की है तथा इसके अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का अन्तर्भाव माना है[4]। इतने पुष्ट प्रमाणों के रहते हुए भारतीयों को इतिहास की कल्पना से ही शून्य मानना नितान्त अनुचित है।

---

[1] त्रित कूपेऽवहितमेतत् सूक्त प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्-मिश्र गाथामिश्र भवति—निरुक्त ४।६।

[2] ऋग्वेद भगवोऽध्येमि यजुर्वेद सामवेदमथर्वणम् इतिहास पुराण पञ्चम वेदाना वेदम्—छान्दोग्य ७–१।

[3] इतिहास-पुराणाभ्या वेद समुपबृंहयेत्
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामय प्रहरिष्यति ॥—महाभारत

[4] अथर्ववेद इतिहासवेदौ च वेदा। पश्चिम (अहर्भाग) इतिहासश्रवणे पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरण धर्मशास्त्रमर्थशास्त्र चेतीतिहासः।
—अर्थशास्त्र।

हमारे प्राचीन साहित्य में इतिहास विषयक ग्रन्थ थे जो धीरे-धीरे उपलब्ध हो रहे हैं। परन्तु पाश्चात्य इतिहास-कल्पना और हमारी इतिहास कल्पना में एक अन्तर है जिसे समझ लेना आवश्यक है। पाश्चात्य इतिहास घटना-प्रधान है अर्थात् उसमें युद्ध आदि की घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करना ही मुख्य उद्देश्य रहता है। परन्तु भारतीय कल्पना के अनुसार घटना-वैचित्र्य विशेष महत्त्व नहीं रखता। हमारे जीवन-सुधार से उनका जहाँ तक लगाव है वहीं तक हम उन्हें उपादेय समझते आये हैं।

भारतीय साहित्य में इतिहास शब्द से प्रधानतया महाभारत का ही ग्रहण होता है और यह ग्रहण करना सर्वथा उचित है। महाभारत कौरवों और पाण्डवों के युगान्तरकारी युद्ध का ही सच्चा इतिहास नहीं है प्रत्युत उसे हमारी संस्कृति, समाज, राजनीति तथा धर्म के प्रतिपादक इतिहास होने का भी गौरव प्राप्त है। यहाँ इतिहास के अन्तर्गत हम वाल्मीकीय रामायण को भी रखना उचित समझते हैं। प्रचलित परिपाटी के अनुसार इसे 'आदि महाकाव्य' मानना ही न्याय-संगत होगा परन्तु धार्मिक दृष्टि से उसका गौरव महाभारत से घटकर नहीं है। रामायण के द्वारा चित्रित भारतीय सभ्यता महाभारत से भी प्राचीन है। रामायण मर्यादा पुरुषोत्तम महाराज रामचन्द्र के जीवन चरित्र को चित्रित करने वाला अनुपम ग्रन्थ है। रामराज्य की कल्पना जो भारतीय राजनीति में आदर्श मानी जाती है महर्षि वाल्मीकि की ही देन है। यह जानना आवश्यक है कि रामायण और महाभारत की घटनायें ऐतिहासिक हैं। ये दोनों महत्त्वपूर्ण युद्ध इसी भारतवर्ष की सीमा के भीतर लड़े गये थे। उन्हें अन्तर्जगत् के धर्म और अधर्म के द्वन्द्व युद्ध का प्रतीकमात्र मान लेना नितान्त अनुचित है। वैदिक साहित्य में हम जिस धर्म का सिद्धान्त रूप में दर्शन करते हैं उसी का व्यावहारिक रूप हमें इन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। सच्ची बात तो यह है कि रामायण और महाभारत जीवित भारतीय संस्कृति के प्रकाशस्तम्भ हैं जिनके प्रकाश से हम अपने वैदिक धर्म के अनेक अन्धकार से आवृत तथ्यों के साक्षात् करने में समर्थ होते हैं। ये दोनों इतिहास ग्रन्थ हैं। परन्तु उस अर्थ में ये इतिहास ग्रन्थ नहीं हैं जिस अर्थ में समझा जाता है। इतिहास शब्द यहाँ

अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इतिहास का शब्दार्थ ही है—इति – ह + आस—जो इस तरह से था। इस प्रकार से हमारे प्राचीन धर्म तथा हमारी सभ्यता में जो कुछ था, उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन हमें इन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इतिहास के द्वारा वेद के अर्थ का उपबृंहण होता है, इसका भी यही रहस्य है। वेद का अर्थ तो स्वयं सूक्ष्म ठहरा, जिसे सूक्ष्म मतिवाले लोग ही भली भाँति समझ सकते हैं। परन्तु इन इतिहास तथा पुराण ग्रन्थों में हम उसी सूक्ष्म अर्थ का प्रतिपादन जन-साधारण के लिए बोधगम्य, सरस तथा सरल भाषा में पाते हैं। इतिहास और पुराणों में जो सिद्धान्त प्रतिपादित हैं वे सिद्धान्त वेद के ही हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। परन्तु हमारे समझने योग्य भाषा में लिखे जाने के कारण ये हमारे हृदय को अधिक स्पर्श करते हैं। इस तरह वैदिक सिद्धान्तों के बहुल प्रचारक होने के कारण ही धार्मिक दृष्टि से इन ग्रन्थों का महत्त्व है। व्यास ने इतिहास का महत्त्व बतलाते हुए इसी बात की ओर संकेत किया है —

इतिहास पुराणाभ्यां, वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

इतिहास के जिस व्यापक अर्थ का हमने अभी निर्देश किया है उसका समर्थन राजशेखर की काव्यमीमांसा से भी होता है। राजशेखर का कहना है कि इतिहास दो प्रकार का है (१) परिक्रिया (२) पुराकल्प। 'परिक्रिया' से अभिप्राय उस इतिहास से है जिसका नायक एक ही व्यक्ति होता है जैसे रामायण। 'पुराकल्प' अनेक नायक वाले इतिहास-ग्रन्थ का सूचक है जैसे महाभारत। राजशेखर के अनुसार भी ये दोनों ग्रन्थ-रत्न 'इतिहास' के ही अन्तर्गत ठहरते हैं। राजशेखर का कथन है—

परिक्रिया पुराकल्पः इतिहास-गतिर्द्विधा ।
स्यादेक-नायका पूर्वा, द्वितीया बहुनायका ॥

भारतीय काव्य-साहित्य के आधार तथा उपजीव्य हैं ये ही इतिहास-पुराण। अतः उसके प्रकृत वर्णन प्रस्तुत करने से पहिले इन आधार ग्रन्थों का अनुशीलन यहाँ नितान्त आवश्यक है।

३

उपजीव्य काव्य

प्रत्येक साहित्य में प्रतिभाशाली कवियों की लेखनी से प्रसूत कतिपय ऐसे मर्मस्पर्शी काव्य हुआ करते हैं जिनसे स्फूर्ति तथा प्रेरणा लेकर अवान्तर कालीन कविगण अपने काव्यों को सजाया करते हैं। ऐसे काव्यों को हम व्यापक प्रभाव सम्पन्न होने के हेतु 'उपजीव्य काव्य' के नाम से पुकार सकते हैं। संस्कृत-साहित्य में भी ऐसे उपजीव्य काव्य विद्यमान हैं जिनसे संस्कृत भाषा तथा अर्वाचीन प्रान्तीय भाषाओं के कवियों ने अपने विषय के निर्देश के लिए तथा काव्यशैली के विमल विधान के निमित्त सन्तत उत्साह तथा अश्रान्त स्फूर्ति ग्रहण की है तथा आज भी वे कर रहे हैं। ऐसे उपजीव्य काव्य संख्या में तीन हैं—(१) रामायण, (२) महाभारत तथा (३) श्रीमद्भागवत। इन तीनों का अवान्तर काव्य-साहित्य के ऊपर बड़ा ही विशाल, मार्मिक तथा आभ्यन्तर प्रभाव पड़ा है। आदि कवि की वाणी पुण्यसलिला भागीरथी है जिसमें अवगाहन कर पाठक तथा कवि अपने आपको पवित्र ही नहीं जानते, प्रत्युत रसमयी काव्यशैली के हृदयावर्जक स्वरूप के समझने में भी कृतकार्य होते हैं। काव्य तथा नाटकों को विषय-निर्देश देने में रामायण एक अक्षुण्ण स्रोत है। महाभारत तो वस्तुत व्यास-वाणी का विमल प्रसाद है। वह सचमुच विचार रत्नों का एक अगाध महार्णव है जिसमें गोते लगानेवाला कवि आज भी अपने काव्य को चमत्कृत तथा अलंकृत बनाने के लिए नवीन जगमगाते हीरों की खोज निकालता है। व्यास जी की वह उक्ति अतिशयोक्ति का साधन नहीं है जिसमें उन्होंने डंके की चोट इस ग्रन्थ रत्न की भव्यता का निर्देश करते हुए कहा है कि जो कुछ इस महाभारत में है वह दूसरे स्थलों पर है, परन्तु जो इसके भीतर नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

भागवत

रामायण तथा महाभारत—ये दोनों काव्य-रत्न तो हमारे कविजनों के लिए उपजीव्य माने ही जाते हैं परन्तु एक तीसरा भी ऐसा ही उपादेय विस्तृत प्रभावशाली ग्रन्थ है जिसकी ओर काव्य के आलोचकों की दृष्टि नहीं गई है। वह ग्रन्थ है पुराणों का मुकुटमणि श्रीमद्भागवत। भारतीय धर्म के विकास में भागवत का व्यापक प्रभाव किसी भी विज्ञ आलोचक से छिपा नहीं है, परन्तु भारतीय काव्य के कोमल विलास तथा प्रचुर प्रसार में भी भागवत का नितान्त महनीय प्रभाव आलोचकों की दृष्टि से ओझल नहीं हो सकता। यह तो निर्विवाद है कि भारतीय साहित्य में जो मधुरिमा, सरसता तथा हृदयावर्जकता है वह वैष्णव धर्म की देन है। 'रसो वै सः' के प्रत्यक्ष निदर्शनभूत रसिकशिरोमणि श्यामसुन्दर की ललित लीला तथा लावण्यमय विग्रह की भव्य झाँकी प्रस्तुत करनेवाला यह भागवत पुराण भारतीय साहित्य के गीति काव्यों तथा प्रगीत मुक्तकों का अक्षय स्रोत है जिसकी माधुर्य-भावना को ग्रहण कर कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने काव्यों में लालित्य का, सरसता का तथा हृदयानुरञ्जकता का पुट देकर उन्हें शोभन तथा हृदयावर्जक बनाया है। संस्कृत कृष्ण-कवियों की मधुर सूक्तियों में भागवत की मधुरिमा झलकती है। जयदेव की कोमलकान्त पदावली का विन्यास भागवत की सरसता से ओतप्रोत है। मध्ययुगीय वैष्णव पदकारों के पदों में लालित्य का तथा रस निर्भरता का विधान श्रीमद्भागवत के गाढ अनुशीलन का परिणत फल है। वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी हिन्दी तथा गुजराती कवियों में भागवत का उतना ही रस-निस्यन्द है जितना गौडीय वैष्णवों की बंगला कविता में। ऐसे महनीय काव्य-ग्रन्थ को उपजीव्य काव्य की श्रेणी में अन्तर्भुक्त मानना नितान्त उपयुक्त है।

रूप-भेद

इन ग्रन्थों में उपजीव्यता तथा काव्य की दृष्टि से समानता होने पर भी स्वरूपगत तथा कालगत विषमता स्पष्ट है। रामायण महाकाव्य है, महाभारत इतिहास है तथा श्रीमद्भागवत पुराण है। वाल्मीकि ने मर्यादापुरुषोत्तम

भगवान् रामचन्द्र के आदर्श चरित्र का सकल रसात्मिका शैली के द्वारा किया है जिसमें घटना-चक्रों का तूल देनेवाले वर्णों का विन्यास न होकर सहृदयों के हृदयों को मुग्ध करनेवाले शब्दों का विलास ही अधिक है। महाभारत शान्तरस-प्रधान बृहद्विस्तृत काव्य है जिसमें व्यासदेव ने भारतीय संस्कृति के ग्राह्य आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक रूप का अङ्कन पाण्डव कौरव के समर के व्याज से किया है। इसी से यह मानवों के लिए सदाचार की सौम्य शिक्षा का एक विराट कोश है। श्रीमद्भागवत चरित प्रधान होने से पुराण है जिसमें मानवों के कल्याण के निमित्त धराधाम पर अवतीर्ण होनेवाले भगवान् के नाना चरितों, अवतारों तथा तत्सम्बद्ध कथाओं का सुन्दरतम विवरण विन्यस्त है। इस स्वरूपगत विभेद के अतिरिक्त एक और भी भेद दृष्टिगोचर होता है। वाल्मीकीय रामायण रामचन्द्र के कार्यों का ही मुख्यतया प्रतिपादक होने से कर्मप्रधान है। महाभारत आचार, नीति तथा लोकव्यवहार का विशाल भाण्डार होने के कारण तथा श्रीमद्भगवद्गीता जैसे अध्यात्म प्रधान ग्रन्थ के समावेश के हेतु स्फुटतया ज्ञान प्रधान है। भागवत लोक में न्याय अन्याय, राग द्वेष मैत्री-कलह के समस्त जागरूक संघर्ष को मिटाने तथा परम सामञ्जस्य को स्थापित करने वाले भगवान् की मधुर लीलाओं का अनन्त आगार होने के कारण नितान्त भक्ति प्रधान है। इस प्रकार रामायण, महाभारत तथा भागवत कर्मकालिन्दी, ज्ञान-सरस्वती तथा भक्ति गंगा की भव्य त्रिवेणी है जिसका अवगाहन काव्य के साधकों को कर्म, ज्ञान तथा भक्ति की भावना को दृढ़ तथा शुद्ध बनाने के लिए नितान्त आवश्यक है।

कालगत भेद

तीनों में कालगत भेद भी स्पष्ट है। कतिपय पश्चिमी आलोचक महाभारत के कथानक में अव्यवस्थित आदिकालीन समाज व्यवस्था का निर्देश पाने के कारण उसे रामायण से प्राचीनतर मानने की भ्रान्त धारणा बनाये हुए हैं, परन्तु दोनों की स्वगत, अन्तरंग परीक्षा के अनन्तर रामायण की प्राचीनता स्वतः प्रमाणसिद्ध हो जाती है। वाल्मीकीय रामायण में महाभारत के न तो पात्रों का ही कहीं उल्लेख है और न उसकी घटनाओं का ही;

ग्रन्थस्थ पद्यों के उद्धरण तथा संकेत पाने की तो बात ही असंगत है। परन्तु महाभारत के वनपर्व में पूरा रामचरित 'रामोपाख्यान' के नाम से अनेक अध्यायों में केवल वर्णित नहीं है, प्रत्युत वाल्मीकि के स्पष्ट निर्देश के साथ रामायण के कतिपय श्लोक भी निर्दिष्ट किये गये हैं। इसका निष्कर्ष यही है कि महाभारत रामकथा से ही परिचित नहीं है, बल्कि वह वाल्मीकि के वर्तमान रामायण से भी पूर्णतया अभिज्ञ है। फलतः रामायण का महाभारत की अपेक्षा प्राचीनतर होना नितान्त सिद्ध है। भागवत की रचना महाभारत से अर्वाचीन है। भागवत के प्रथम स्कन्ध पञ्चम अध्याय में उसके निर्माण का बीज निर्दिष्ट किया गया है। आचार व्यवहार के इतने विशाल कोशभूत महाभारत की रचना करने पर भी व्यासदेव की आन्तरिक शान्ति जब नहीं मिली तब महर्षि नारद जी के उपदेश से उन्होंने भक्तिप्रधान भागवत का निर्माण किया (भाग० १।७।८)। महाभारत में वीररस प्रधान होने से चित्त में उद्वेग तथा क्षोभ उत्पन्न करने वाले भीषण कूट संग्रामों की ही चर्चा अधिक है, भगवान् के सरस, हृदयरञ्जक चरित्र का वर्णन नहीं के बराबर है। इसी त्रुटि को दूर करने के लिए भगवान् की मधुर चरितावली से सम्पन्न भागवत को लिखकर महर्षि व्यासदेव ने हृदय की दुर्लभ शान्ति तथा सान्त्वना प्राप्त की। अतः भागवत का महाभारत से अर्वाचीन होना अन्तरङ्ग परीक्षण से स्वयं-सिद्ध है।

४

रामायण

सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा॥

— त्रिविक्रमभट्ट

संस्कृत साहित्य में महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण 'आदि काव्य' समझा जाता है तथा वाल्मीकि 'आदिकवि' माने जाते हैं। कथा प्रसिद्ध है कि जब व्याध के बाण से बिंधे हुए क्रौञ्च के लिए विलाप करनेवाली क्रौञ्ची का

करुण शब्द ऋषि ने सुना, तो उनके मुँह से अकस्मात् यह श्लोक निकल पड़ा जिसका आशय यह है कि हे निषाद! तुमने काम से मोहित इस क्रौञ्च पक्षी को मारा है। अतः तुम सदा के लिये प्रतिष्ठा प्राप्त न करो[1]। महर्षि की करुणामयी वाणी सुनकर स्वयं ब्रह्मा उपस्थित हुए और उन्होंने रामचरित लिखने के लिये उनसे कहा। रामायण की रचना इसी प्रेरणा का फल है। वाल्मीकि अनुष्टुप् छन्द के आविष्कारक माने जाते हैं। उपनिषदों में भी अनुष्टुप् छन्द है, परन्तु लौकिक संस्कृत में व्यवहृत होने वाले सम अक्षर से युक्त अनुष्टुप् का प्रथम प्रयोग वाल्मीकि ने किया जिसमें लघुगुरु का निवेश नियमबद्ध था।

बहुत से विद्वान् लोग उत्तरकाण्ड को तथा बालकाण्ड के कतिपय अंशों को एकदम प्रक्षिप्त बतलाते हैं। उनका कहना है कि बालकाण्ड के प्रथम और तृतीय सर्ग में जो विषय सूची दी गई है उसमें उत्तरकाण्ड का निर्देश नहीं है। जर्मन विद्वान् याकोबी मूल रामायण में अयोध्या काण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक पाँच ही काण्ड मानते हैं। लङ्काकाण्ड के अन्त में ग्रन्थ के अन्त होने की सूचना भी प्रतीत होती है इसलिये उत्तरकाण्ड को पीछे से जोड़ा गया माना जाता है। इस काण्ड में कुछ ऐसे आख्यानों की चर्चा है जिनका संकेत पहले के काण्डों में नहीं मिलता है। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि वह बहुत पीछे जोड़ा गया है। बौद्धों में एक प्रसिद्ध जातक है—'दशरथ जातक' जिसमें रामायण का वर्णन संक्षेप रूप में उपलब्ध होता है। इसमें पालि भाषा में रूपान्तरित उत्तरकाण्ड का एक श्लोक हूबहू मिलता है। इस जातक का समय विक्रमपूर्व तृतीय शतक माना जाता है। अतः मानना पड़ेगा कि उत्तर काण्ड की रचना उक्त शतक से पहले की है।

इस आदिकाव्य को 'चतुर्विंशति साहस्री संहिता' कहते हैं अर्थात् इसमें २४ हजार श्लोक हैं—ठीक उतने ही हजार जितने 'गायत्री के अक्षर हैं। प्रत्येक हजार श्लोक का पहला अक्षर गायत्री मन्त्र के ही अक्षर से क्रमशः

---

[1] मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥ —बाल २।१५

आरम्भ होता है, यह विद्वानों का कहना है। अनुष्टुप् श्लोकों के अतिरिक्त अन्य छन्दों में भी पद्य मिलते हैं। विद्वान् लोग इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर क्षेपक भी मानते हैं, परन्तु काव्य में एकता का कहीं भी अभाव नहीं दीख पड़ता। ग्रन्थ में पाठभेद भी कम नहीं हैं। उत्तरी भारत, बङ्गाल तथा काश्मीर में रामायण के जो संस्करण उपलब्ध होते हैं उनमें पाठभेद बहुत ही अधिक हैं। उनमें एक दूसरे में श्लोकों का ही अन्तर नहीं है, प्रत्युत कहीं-कहीं तो सर्ग के सर्ग भिन्न दिखाई पड़ते हैं। रामायण के अनेक संस्करण उपलब्ध होते हैं—(१) देवनागरी संस्करण[१]। उत्तरी भारत में इसी संस्करण का विशेष प्रचलन है। (२) बङ्गाल संस्करण (कलकत्ते से प्रकाशित) इस पर लोकनाथ का प्रसिद्ध टीका है। इस संस्करण का प्रकाशन डाक्टर गोरेशियो ने अनेक उपयोगी टिप्पणियों के साथ किया है[२]। (३) काश्मीर संस्करण जिसका प्रचलन उत्तर पश्चिमीय भारत में विशेष रूप से था[३]। (४) दक्षिण भारत संस्करण[४]। इसमें और देवनागरी संस्करण में विशेष भेद नहीं है। आरम्भ के तीनों संस्करणों में पर्याप्त भिन्नता है। वाल्मीकि का मूल रामायण कौन सा था? इसका निर्णय करना नितान्त कठिन है। कुछ विद्वान बङ्गाल संस्करण का अधिक पुराना तथा विशुद्ध मानते हैं, तो कुछ देवनागरी संस्करण को। इस विषय के लिए इन संस्करणों का विशेष मन्थन तथा अनुशीलन अपेक्षित है।

---

[१] निर्णय सागर बम्बई से प्रकाशित।

[२] डा० गोरेशिओ (G Gorresio) ने इस संस्करण को प्रकाशित किया है तथा इटैलियन भाषा में इसका अनुवाद भी किया है (१८८४-६७)।

[३] डी० ए० वी० कालेज लाहौर के अनुसन्धान कार्यालय से प्रकाशित, १९१३।

[४] मध्व विलास बुकडिपो, कुम्भकोणम् से प्रकाशित, १९२९–३०।

समय

वाल्मीकि रामायण के निर्माण का समय बाहरी तथा भीतरी प्रमाणों के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। राम वैदिक, बौद्ध तथा जैन धर्मों में समभाव से मर्यादा-पुरुष माने जाते हैं। बौद्ध साहित्य में तथा जैन साहित्य में रामकथा का निर्देश स्पष्टतया किया गया है। बौद्ध कवि कुमारलात (१०० ई०) की 'कल्पना मण्डितिका' में रामायण के सभागारों में वाचन का उल्लेख है। जैन कवि विमलसूरि ने रामकथा को 'पउम चरिअ' नामक प्राकृत भाषा के महाकाव्य में निबद्ध किया है। विमलसूरि ने इस काव्य की रचना महावीर की मृत्यु से ५३० वर्ष के अनन्तर (लगभग ६२ ई०) में की है। यह काव्य वाल्मीकीय रामायण को आदर्श मानकर जैनधर्मावलम्बियों को इस मर्यादापुरुष के चरित्र से परिचय प्राप्त कराने के लिये ही लिखा गया है। महाकवि अश्वघोष (७८ ई०) ने अपने बुद्धचरित में सुन्दरकाण्ड के अनेक रमणीय उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं को निबद्ध किया है। बौद्धों के अनेक जातकों में रामकथा का स्पष्ट निर्देश है। 'दशरथ जातक' तो रामायण का पूरा आख्यान ही है जिसमें रामपण्डित बुद्ध के ही पूर्वकालीन प्रतिनिधि माने गये हैं। वाल्मीकि रामायण का एक श्लोक भी इस जातक में पालीरूप से उपलब्ध होता है। जातकों का समय निरूपण झमेले का विषय है। यद्यपि उनकी कथायें इससे भी पूर्व इस देश में प्रचलित था, तथापि उनका समय तृतीय शतक ई० पूर्व में साधारणतया माना जाता है। इन बाहरी प्रमाणों के आधार पर रामायण तृतीय शतक ई० पूर्व से भी पहले की रचना सिद्ध होता है।

वर्तमान महाभारत रामकथा से परिचित ही नहीं है, अपितु वह वाल्मीकि के रामायण से भी भलीभाँति अवगत है। रामायण में महाभारत पात्रों का कहीं भी उल्लेख नहीं है, परन्तु वनपर्व का रामोपाख्यान (अध्याय २७३–९३) वाल्मीकि से ली गई कथा का संक्षिप्त संस्करण है। रामचन्द्र से सम्बद्ध स्थान महाभारत में तीर्थरूप से माने गये हैं। शृंगवेरपुर (सिंगरौर, जि० प्रयाग, वनपर्व ८५।६५) तथा गोप्रतार (फैजाबाद में

नुसार आठ वनपर्व ८४।७० , वनपर्व में तीर्थ माने गये हैं । अतः महाभारत के वर्तमान रूप प्राप्त होने से पहले ही रामायण अवान्तर अंशों के साथ प्राचीन तथा पुराना ग्रन्थ माना जाता था । दोनों ग्रंथों की तुलना आगे की जायेगी । महाभारत का वर्तमान रूप ईस्वी के आरम्भ में प्राप्त हुआ है । अतः रामायण की रचना इससे भी पहले ही अवश्य की गई होगी ।

रामायण का अनुशीलन उसकी रचना के समय को भली भाँति प्रकट कर रहा है । रामायण के समय की राजनीतिक अवस्था का परिचय इस महाकाव्य के अध्ययन से भलीभाँति मिलता है —

(१) पाटलिपुत्र नगर की स्थापना ५०० ई० पूर्व में मगध नरेश अजातशत्रु ने की । पहले यह एक साधारण ग्राम था जिसका नाम बौद्धग्रंथों में 'पाटलिग्राम' दिया गया है । अजातशत्रु ने शत्रु राजाओं के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के निमित्त गंगा-सोन के संगम पर इस ग्राम में किला बनवाया[1] । इनके पिता बिम्बसार की राजधानी राजगृह या गिरिव्रज थी । रामायण में राम शोण और गंगा के संगम से होकर जाते हैं पर पाटलिपुत्र का उल्लेख यहाँ नहीं मिलता[2] । इससे स्पष्ट है कि रामायण ५०० ई० पूर्व से पहले लिखा गया ।

(२) कोशल जनपद की राजधानी रामायण में अयोध्या बतलाई गई है[3] परन्तु जैन और बौद्ध ग्रंथों में अयोध्या के स्थान पर वह 'साकेत' नाम से ही प्रख्यात है । लव ने अपनी राजधानी 'श्रावस्ती में स्थिर की[4] । रामायण की रचना उस समय की गई होगी, जब अयोध्या को छोड़कर श्रावस्ती में राजधानी नहीं लाई गई थी । बुद्ध के समय में कोशल के राजा

---

[1] राय चौधरी—पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० १४१ ।

[2] बालकाण्ड सर्ग ३१ ।

[3] अयोध्या नाम नगरी तत्रासीत् लोकविश्रुता । बाल ५।६ ।

[4] श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य च ॥—उत्तर १०८।५ ।

प्रसेनजित् 'श्रावस्ती' में ही राज्य करते थे। अतः रामायण की रचना बुद्ध से पूर्वकाल में हुई।

(३) गंगा पार करने पर राम 'विशाला' में पहुँचे। इसके राजा का नाम 'सुमति' था जिसने इन लोगों की बड़ी अभ्यर्थना की—गङ्गाकूले निविष्टास्ते विशालां ददृशुः पुरीम्—बाल ४५।८। इक्ष्वाकु की 'अलम्बुषा' नामक रानी से उत्पन्न 'विशाल' नामक पुत्र ने इस नगरी को बसाया था। इसलिए यह 'विशाला' के नाम से विख्यात थी। रामायण में विशाला[1] और मिथिला[2] दो स्वतन्त्र राजतन्त्र राज्य थे, परन्तु बुद्ध के समय में ये दोनों राज्य पृथक् और स्वतन्त्र न होकर वैशाली राज्य के रूप में सम्मिलित कर दिये गए थे और शासनपद्धति भी गणतन्त्र राज्य के समान थी। अतः रामायण को बुद्ध से प्राचीन होना चाहिए।

(४) भारत का दक्षिण अंश एक विराट् अरण्यानी के रूप में अंकित किया गया है जिसमें बन्दर, भालू आदि असभ्य या अर्धसभ्य जातियाँ निवास करती थीं। इन देशों में आर्य सभ्यता के प्रसार होने से पहले की यही अवस्था थी। अतः दक्षिण भारत को आर्य बनने से पहले रामायण का निर्माण हुआ।

(५) उत्तरी भारत आर्य अवश्य था, परन्तु बालकाण्ड से सिद्ध है कि कोशल, अंग, कान्यकुब्ज, मगध, मिथिला आदि अनेक छोटे छोटे राज्यों में यह बँटा था। यह राजनीतिक अवस्था बुद्ध पूर्व भारत में ही दृष्टिगोचर होती है।

(६) सारे रामायण में केवल दो पद्यों में ही यवनों का नाम आता है। इसी सामान्य आधार पर जर्मन विद्वान् डाक्टर वेबर ने सिद्ध करने का

---

[1] द्रष्टव्य बालकाण्ड, सर्ग ४७, श्लोक ११–२०।

[2] मिथिला में जनकवंशी नरेशों का आधिपत्य था। उस समय मिथिला के राजा का नाम सीरध्वज जनक था—द्रष्टव्य बाल०, सर्ग ५०।

प्रयत्न किया था कि रामायण पर यूनानी सभ्यता का प्रभाव पड़ा है, पर डा० याकोबी ने इन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध किया है। अतः यूनानी आक्रमण के अनन्तर ये पद्य रामायण में मिला दिये गये होंगे।

इन प्रमाणों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामायण की रचना बुद्ध के जन्म से पहले ही हुई। अर्थात् रामायण को ५०० ई० पू० से पहले की रचना मानना न्यायसंगत है।

रामायण के टीकाकार

वाल्मीकीय रामायण का महत्त्व केवल काव्यदृष्टि से नहीं है, प्रत्युत वह नाना वैष्णव सम्प्रदायों में एक उपास्य धार्मिक ग्रन्थ भी है। इसलिए रामायण को आश्रय मानकर अनेक व्याख्याग्रन्थों की रचना भिन्न भिन्न युगों में की गई है। डा० औफ्रेक्ट के अनुसार टीकाओं की संख्या ३० है, परन्तु अभी तक प्रकाशित होने का श्रेय बहुत ही थोड़ी सी टीकाओं को प्राप्त हुआ है—

(१) **रामायण तिलक**—यह सर्वाधिक लोकप्रिय टीका है जिसका प्रकाशन निर्णयसागर आदि अनेक स्थानों से हुआ। इस टीका के अन्तिम पद्यों को देखने से पता चलता है कि इसके रचयिता प्रख्यात वैयाकरण नागेश भट्ट या नागोजी भट्ट थे (१८वीं शती का प्रथम चरण), परन्तु इसकी रचना उन्होंने अपने आश्रयदाता शृंगवेरपुर के राजा राम के नाम से किया और इसी कारण यह 'रामीया व्याख्या' के नाम से प्रसिद्ध है। प्रायः प्रत्येक कठिन शब्द अथवा कठिन स्थल की यहाँ व्याख्या की गई है। मूल के समझने में पर्याप्त सहायक है। प्राचीन टीकाकारों में कतक तथा तीर्थ का नाम बड़े आदर के साथ लिया गया है और उनके पाठभेदों का भी उल्लेख स्थान स्थान पर किया गया है।

(२) **रामायण भूषण**[1]—अपने रचयिता गोविन्दराज के नाम पर यह 'गोविन्दराजीय' के नाम से भी प्रख्यात है। प्रत्येक काण्ड में व्याख्यान

---

[1] १—कृष्णाचार्य के द्वारा कुम्भकोण से १९१७ में तथा वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से भी प्रकाशित।

के नाम ग्रन्थकार ने भिन्न भिन्न दिये हैं जो काण्डक्रम से इस प्रकार हैं—मणिमञ्जीर, पीताम्बर, रत्नमेखला, मुक्ताहार, शृङ्गारतिलक, मणिमुकुट तथा रत्नकिरीट। गोविन्दराज श्री वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे और इससे श्री वैष्णवों की मान्यता के अनुसार लिखित होने से इसमें यह व्याख्या मान्य तथा नितान्त प्रामाणिक मानी जाती है। गोविन्दराज काञ्ची के निवासी कौशिक गोत्रीय वरदराज के पुत्र थे। शठकोप देशिक के वे शिष्य थे।[1] ये अहोबिल मठ के छठे स्वामी प्रतीत होते हैं जिनका समय १६वीं शती का आरम्भ काल है। युद्ध काण्ड की टीका के अन्तिम पद्य से पता चलता है कि ये अन्नमाचार्य के द्वारा रामायण टीका लिखने में प्रोत्साहित किये गये। अन्नमाचार्य का समय विजयनगर के राजा कृष्णराय के राज्यकाल से सम्बद्ध है। फलतः गोविन्दराज का समय १६वीं शती का मध्यकाल है। तिरुपति की यात्रा के समय श्री वेंकटेश का स्वप्न में आदेश पाकर इन्होंने इस टीका की रचना की। यह टीका बहुत प्रामाणिक और पाण्डित्यपूर्ण है। वाल्मीकि रामायण के भीतर विद्यमान वैष्णव सिद्धान्तों के विशद विवरण के लिए तो यह ग्रन्थ सचमुच अनुपम है।

(ग) तीर्थीय—इस रामायण टीका का भी नाम तो वस्तुतः 'रामायणतत्त्वदीपिका' है, परन्तु यह ग्रन्थकर्ता महेश्वरतीर्थ के ही नाम पर 'तीर्थीय' आख्या से विशेष प्रसिद्ध है। पूरी टीका शायद अप्रकाशित है। इसके आवश्यक उद्धरण कुम्भकोणम् संस्करण में दिये गये हैं।[2] इनके गुरु का नाम नारायणतीर्थ था जिनका उल्लेख टीका के आरम्भ में मिलता है। यह टीका पाठों के संशोधन में तथा पदों की व्याख्या में बड़ी प्रामाणिक मानी जाती है। तिलक में बहुशः उल्लिखित होने से यह निश्चय रूप से १७वीं शती से पूर्ववर्ती है।

---

[1] —इत्थं कौशिकवंशमौक्तिकमणिर्गोविन्दराजाभिधो
वात्स्यश्रीशठकोपदेशिक-पदद्वन्द्वैक-सेवाश्रितः। टीका का अन्त।

[2] —कृष्णाचार्य द्वारा सम्पादित सटीक रामायण, सन् १९११।

(४) रामायण तनिश्लोकी व्याख्या—यह टीका बहुत ही विशद और विस्तृत है। इसकी रचना तमिल भाषा में मूलतः परिय वाच्चानिल्लै नामक ग्रन्थकार ने की थी। इसी का संस्कृत में अनुवाद किसी अज्ञातनामा लेखक ने किया। रामायण की व्याख्या में अनेक विलक्षण और आकर्षक तथ्यों का यहाँ विवरण उपलब्ध होता है।[1]

(५) रामायण शिरोमणि—रामायण की यह व्याख्या वंशीधर तथा शिवसहाय की सम्मिलित रचना है। आरम्भ के पद्य से पता चलता है कि वंशीधर नाटिराम के पौत्र तथा सीताराम के पुत्र थे। रचना त्रिवेणी के तट पर प्रयाग में की गई थी। रचना के काल १९२१ सं० (१८६५ ईस्वी) का उल्लेख टीका में किया गया है।[2] कालक्रम में आधुनिक होने पर व्याख्या के विषय में विशेष प्रौढ, पाण्डित्यपूर्ण तथा विस्तृत है।[3]

(६) मनोहरा—इसके रचयिता बंगदेशीय लोकनाथ चक्रवर्ती हैं। ये मूलतः पूर्व बंग के जसोहर जिले के निवासी थे तथा चैतन्य देव के समकालीन थे। वैष्णव धर्म में दीक्षित होकर नदिया में आकर रहने लगे थे। अतः इनका समय १६वीं शती है। आज भी इनके वंशजों में पाण्डित्य की कमी नहीं है। इनकी टीका अल्पाक्षरा है जो वस्तुतः टिप्पणी ही कही जा सकती है, परन्तु पाठ संशोधन इसकी महती विशेषता है। इन्होंने बंगदेशीय रामायण के पाठ पर अपनी टीका लिखी है। पश्चिमी पाठ अर्थात् देवनागरी पाठ से भी ये पूर्णतः परिचित हैं तथा उसे स्थान स्थान पर निर्दिष्ट किया है।[4] इनके

---

[1] श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।

[2] चन्द्रद्वयङ्क [illegible] युक्तः शम्या शुक्ला रविवे दिक्तिथौ।

[3] गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई से अनेक जिल्दों में तिलक तथा भूषण के साथ प्रकाशित।

[4] कलकत्ता से बंगाक्षर में प्रकाशित, १९५१ ई०।

समय में विमलनाथ तथा सर्वज्ञ की टीकायें प्रसिद्ध थीं।[1] इनका उल्लेख आदरपूर्वक इन्होंने किया है।

(७) **धर्माकूतम्**—रामायण की आलोचनात्मक व्याख्या है जिसमें ग्रन्थकार ने बड़े प्रमाणों का उपन्यास कर दिखलाया है कि रामायण वेद तथा धर्मशास्त्र की शिक्षा तथा उपदेशों का प्रतिपादक ग्रन्थरत्न है। पद व्याख्या की अपेक्षा तात्पर्य निर्देश की ही यहाँ महिमा विराजती है। ग्रन्थ का यह वैशिष्ट्य इस प्रकार उल्लिखित है—कृतिरियं सकलश्रुति-सम्मता स्मृतिपुराणवचोभिरलङ्कृता। इसके रचयिता हैं **त्र्यम्बक मखी** जो तंजोर के राज्यसंस्थापक एकोजी (१६७४ ई०–१६८७ ई०) के मन्त्री गंगाधर के पुत्र तथा नरसिंह के भ्राता हैं। इनके पितामह त्र्यम्बकामात्य भी तंजोर के राजाओं के दरबार के धर्माध्यक्ष थे। इस प्रकार इस व्याख्या का रचनाकाल १७ वीं शती का उत्तरार्ध है।[2]

रामायण के तात्पर्य को वर्णन करने वाले ग्रन्थों की भी उपलब्धि हुई है। ऐसे ग्रन्थों में 'रामायण तात्पर्य दीपिका' तथा नारायणयति रचित 'रामायण तत्त्वदर्पण' का नामोल्लेख किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त किसी ने रामायण के किसी प्रसंग पर टीका लिखी है, तो दूसरे ने रामायण के चुने हुए पद्यों पर व्याख्या लिखी है। एक अज्ञात नामा लेखक ने 'चतुरर्थी' व्याख्या में अनेक पद्यों के चार अर्थों का प्रदर्शन किया है जिसमें उनकी प्रतिभा तथा पाण्डित्य का विशेष परिचय मिलता है।[3] इस प्रकार वाल्मीकि

---

[1] आस्ते यदा विमलनाथ सुबोधटीका सर्वज्ञ सद्विरचिता च मनोज्ञटीका।
तथापि सारपरमस्य विमत्सरस्य श्री लोकनाथ रचितैव मनो विधत्ते॥
—टीका का प्रारम्भ, श्लोक २।

[2] श्रीवाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम से कतिपय भागों में अंशतः प्रकाशित। पूरा ग्रन्थ अप्रकाशित।

[3] इन टीकाकारों के विषय में द्रष्टव्य कृष्णमाचार्य हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, मद्रास, १९३७, पृ० २२–२६।

रामायण के व्याख्यानों तथा अनुशीलनों की लम्बी परम्परा ग्रन्थ के महत्त्व तथा प्रभाव की पूर्णतः निर्देशिका है।

समीक्षण

महर्षि वाल्मीकि आदि कवि हैं और उनका रामायण आदि काव्य है। कवि के सच्चे रूप की कल्पना हमने वाल्मीकि से सीखी और महाकाव्य के महत्त्व को हमने रामायण से ग्रहण किया। यदि वाल्मीकि न होते तो कवि के वास्तव स्वरूप और अभिराम आदर्श को हम कहाँ से सीखते? और यदि उनकी प्रसन्न गम्भीर रामायण हमें नहीं मिलती तो हम महाकाव्य के माहात्म्य तथा गौरव को कैसे पहचानते? काव्य के विशुद्ध रूप की कसौटी है—आदि कवि का परम पावन, महनीय तथा माननीय आदिकाव्य रामायण। कवि का पद ऋषि के समान है। ऋषि का भी अर्थ है—द्रष्टा, वस्तुओं के विचित्र भाव, धर्म तथा तत्त्व को भलीभाँति अवगत करनेवाला व्यक्ति ही ऋषि के महनीय पद का भाजन है। कवि का भी अर्थ है क्रान्तदर्शी—'कवयः क्रान्तदर्शिनः'—अर्थात् नेत्रों के व्यापार से दूर रहनेवाले अतीत एवं भविष्य के पदार्थों को यथार्थ रूप से देखनेवाला पुण्यात्मा पुरुष। परन्तु दोनों में थोड़ा अन्तर है। वस्तुतत्त्व के दर्शन होने से ऋषित्व की प्राप्ति हो जाती है, परन्तु जब तक वह अपने अनुभूत वस्तुतत्त्व को शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं करता, तब तक वह 'कवि' नहीं कहला सकता। 'कवि' की कल्पना में 'दर्शन' के साथ 'वर्णन' का भी मनोरम सामञ्जस्य है और इस कल्पना के जनक स्वयं महर्षि वाल्मीकि ही हैं। उन्हें वस्तुओं का निर्मल दर्शन नित्यरूप से था, परन्तु जब तक 'वर्णन' का उदय नहीं हुआ, तब तक उनकी 'कविता' का प्राकट्य नहीं हुआ। 'मा निषाद' पद्य के उच्चारण करते ही ब्रह्मा स्वयं ऋषि के सामने उपस्थित हुए और कहने लगे—महर्षे! तुम्हारा आर्ष चक्षु या प्रातिभ चक्षु अब उन्मिष हो गया है। तुम आद्य कवि हो। भवभूति के स्मरणीय शब्दों में—

> ऋषे प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि। तद् ब्रूहि रामचरितम्।
> अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षुः प्रतिभाति। आद्यः कविरसि॥

कवि के उपर्युक्त रूप को वाल्मीकि के दृष्टान्त के द्वारा प्रसिद्ध समालोचक-शिरोमणि भट्ट तौत ने इस पद्य में सुन्दरता से समझाया है—

दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः ।
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः ।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना ॥

संस्कृत काव्यधारा की दिशा तो उसी अवसर पर निर्दिष्ट हो गयी, जब प्रेम परायण सहचर के आकस्मिक वियोग से सन्तप्त क्रौञ्ची के करुण निनाद को सुनकर वाल्मीकि के हृदय का शोक श्लोक के रूप में छलक पड़ा था। काव्य का जीवन रस है, काव्य का आत्मा रस है—इसे साहित्य-संसार ने तभी सीख लिया, जब आदिकवि की आदि कविता के रसामृत का उसने पान किया। [illegible] तथा नितान्त विस्मित शिष्यों ने आश्चर्य-भरे शब्दों में इस रहस्यभूत तत्त्व को पहचाना—

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा ।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

(रामायण १।२।४०)

महाकवि कालिदास ने भी इसी तथ्य की अभिव्यक्ति की है—

(रघुवंश १४।७०)।

इन्हीं सूत्रों को पकड़कर आनन्दवर्धन ने 'प्रतीयमान' अर्थ के सामान्यरूपेण काव्य में मुख्य होने पर भी रस को ही काव्य का आत्मा स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

(ध्वन्यालोक १।५)

आदिकवि का यह समग्र काव्य ही कविता के सच्चे रूप को प्रकट कर रहा है। वाल्मीकीय रामायण सुन्दर उपमाओं तथा उत्प्रेक्षाओं का एक विराट् भव्य प्रासाद है परन्तु उसके बाह्य आवरण में उसका विशुद्ध रसमय हृदय मणि-मणि से झलक रहा है, इतने स्पष्ट रूप में कि उसकी सत्ता का परिचय हमें पद-पद पर प्राप्त होता है। रामायण का हृदय है - रस-पेशल-वर्णन और इस वर्णन में सर्वत्र विद्यमान है—समग्र काव्यगत व्यापक औचित्य। महाकाव्य का प्रथम तथा भव्य निदर्शन है - यही वाल्मीकीय रामायण। रामायण का ही विश्लेषण कर आलङ्कारिकों ने 'महाकाव्य' का लक्षण प्रस्तुत किया है। 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' लक्षण का प्रथम तथा सबसे सुन्दर लक्ष्य है—रामायण। दण्डी की महाकाव्य-कल्पना 'रामायण' को ही आदर्श मानकर लिखी गयी।

रामायण में मुख्य रस

आनन्दवर्धन ने स्पष्ट 'करुण' को ही रामायण का मुख्य रस कहा है। रामायण का आरम्भ 'करुण' से होता है तथा राम के सामने सीता के पृथ्वी के भीतर अन्तर्धान होने के दृश्य से रामायण का अन्त भी 'करुण' से ही होता है—

रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूचितः 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येववादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीताऽत्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता। (ध्वन्यालोक, उद्योत ४, पृ० २३७)

वाल्मीकि समग्र कविसमाज के उपजीव्य हैं—विशेषतः कालिदास तथा भवभूति के। इन दोनों महाकवियों ने रामायण का गाढ अनुशीलन किया था और इनकी कविता में हमें जो रस मिलता है, उसमें रामायण की भक्ति कम सहायक नहीं रहा है। कालिदास का शृङ्गार रस सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, परन्तु उनका करुण रस कम प्रभावशाली नहीं है। कालिदास ने उभयविध 'करुण' को उपस्थित कर उसे साङ्गोपाङ्ग रूप से दिखलाया है। पत्नी के लिए पति की करुणा का रूप हम रघुवंश के 'अज विलाप' में पाते हैं

और रति के निमित्त पत्नी की करुण परिवेदना 'रति विलाप' के रूप में हमें रुलाती है। ताप से लोहा भी पिघल उठता है, तब कोमल मानव चित्त सन्ताप से मृदु बन जायगा—क्या इस विषय में सन्देह के लिए स्थान है? 'अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु?' कालिदास के इन करुण वर्णनों में मानव-हृदय को प्रभावित करने की क्षमता है, परन्तु भवभूति के उत्तर-चरित में तो यह अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया है। यह भवभूति का ही काम था कि उन्होंने सीता के वियोग में राम को रोते देखकर पत्थर को रुलाया है और वज्र के हृदय का भी विदीर्ण होते दिखलाया है—

'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।'

भवभूति ने करुण को 'एको रसः'—मुख्य रस, अर्थात् समस्त रसों की प्रकृति माना है और अन्य रसों को उसकी विकृति माना है। 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्'—इस कथन के मूल को हमें वाल्मीकि के अन्दर खोजना चाहिये।

वाल्मीकि का यह महाकाव्य पृथ्वीतल को विदीर्ण कर उगनेवाले उस विराट् वटवृक्ष के समान है, जो अपनी शीतल छाया से भारत के समस्त मानवों को आश्रय देता हुआ प्रकृति की विशिष्ट विभूति के समान अपना मस्तक ऊपर उठाए हुए खड़ा है। महाकाव्य प्रधानतया वीर-रस प्रधान हुआ करते हैं, जिनमें युद्ध का घोष, विजय दुन्दुभि का गर्जन तथा सैनिकों का तर्जन मानवों के हृदय में उत्साह तथा स्फूर्ति उत्पन्न किया करते हैं, परन्तु रामायण का माहात्म्य वीर-रस के प्रदर्शन में नहीं है। किसी देव-चरित के वर्णन में भी रामायण का गौरव नहीं है, क्योंकि महर्षि वाल्मीकि ने जब आदर्श गुणों से मण्डित किसी व्यक्ति का परिचय पूछा, तब नारद जी ने एक मानव को ही उन अनुपम गुणों का भाजन बतलाया—'तैर्युक्तः श्रूयतां नरः।' यह नर चरित्र का ही कीर्तन है। भारतीय गार्हस्थ्य-जीवन का विस्तृत चित्रण रामायण का मुख्य उद्देश्य प्रतीत हो रहा है। आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श भ्राता, आदर्श पति, आदर्श पत्नी—आदि जितने आदर्शों को इस अनुपम महाकाव्य में आदिकवि की शब्द तूलिका ने खींचा है

वे सब गृहधर्म के पट पर ही चित्रित किये गये हैं इतना ही क्यों रामरावण का वह भयानक युद्ध भी इस काव्य का मुख्य उद्देश्य नहीं है। वह तो राम-जानकी—पति पत्नी—की परस्पर विशुद्ध-प्रीति को पुष्ट करने का एक उपकरण-मात्र है और ऐसा होना स्वाभाविक ही है। रामायण को भारतीय सभ्यता ने अपनी अभिव्यक्ति के लिये प्रधान साधन बना रखा है और भारतीय सभ्यता की प्रतिष्ठा गृहस्थाश्रम है। अत यदि इस गार्हस्थ्य धर्म की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये आदिकवि ने इस महाकाव्य का प्रणयन किया तो इसमें आश्चर्य क्या है? रामायण तो भारतीय सभ्यता का प्रतीक ठहरा, दोनों में परस्पर उपकार्योपकारक भाव बना हुआ है। एक को हम दूसरी की सहायता से समझ सकते हैं।

रामचरित्र

आदिकवि ने अपने काव्य मन्दिर की पीठ पर प्रतिष्ठित किया है—मर्यादा-पुरुषोत्तम महामानव महाराजा रामचन्द्र को। विभिन्न विकट परिस्थितियों के बीच में रहकर व्यक्ति अपने शील के सौन्दर्य की किस प्रकार रक्षा कर सकता है यह हमें वाल्मीकि ने ही सिखलाया है। यदि आदिकवि ने इस चरित्र का चित्रण न किया होता, तो हमें मजुल गुणों के सामञ्जस्य का परिचय कहाँ से मिलता? भारतवासी किसी मानव के आदर्श चरित्र को सुनने के लिए लालायित थे। वाल्मीकि ने उसी चरित्र को उनके सामने प्रस्तुत किया। यही कारण है कि इस काव्य की मोहकता कभी कम नहीं होती, इसके शब्दों में इतनी माधुरी है, चित्रों में इतनी चमक है कि मानव के कान और नेत्र इसके परिशीलन से एक साथ ही आप्यायित हो उठते हैं। रामायण को जितनी बार पढा जाय, उतनी ही बार उसमे नयी-नयी बातें सूझती हैं। इन सरल परिचित शब्दों में इतना रस-परिपाक हुआ है कि पढने वालों का चित्त आनन्द से गद्गद हो उठता है। सच बात तो यह है कि रामायण के इन अनुष्टुपों को पढकर शताब्दियों से भारत का हृदय स्पन्दित होता आ रहा है और भविष्य मे भी होता रहेगा।

राम के किन आदर्श गुणों के अंकन में यह लेखनी प्रवृत्त हो ? उनकी 'कृतज्ञता' का वर्णन किन शब्दों में किया जाय ? राम तो किसी तरह किये गये एक ही उपकार से सन्तुष्ट हो जाते हैं, और अपकार चाहे कोई सैकड़ों ही करे, उनमें से एक का भी स्मरण उन्हें नहीं रहता। अपकारों को भूलने वाला हो तो ऐसा हो—

कथञ्चिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति ।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया ॥
(रामायण २।१।११)

उनका क्रोध तथा प्रसाद दोनों ही अमोघ है। अपने अपराधों के कारण हनन योग्य व्यक्तियों को बिना मारे वे नहीं रहते और अवध्य के ऊपर क्रोध के कारण कभी उनकी आँखें भी लाल नहीं होतीं—

नास्य क्रोध प्रसादो वा निरर्थोऽस्ति कदाचन ।
हन्त्येष नियमाद् वध्यानवध्येषु न कुप्यति ॥
(रामायण २।२।४६)

राम का शील कितना मधुर है। वे सदा दान करते हैं, कभी दूसरे से प्रतिग्रह नहीं लेते। वे अप्रिय कभी नहीं बोलते। साधारण स्थिति की बात नहीं, प्राणसंकट उपस्थित होने की विषम दशा में भी सत्य पराक्रम वाले राम इन नियमों का उल्लंघन नहीं करते—

दद्यान्न प्रतिगृह्णीयान्न ब्रूयात् किञ्चिदप्रियम् ।
अपि जीवितहेतोर्वा रामः सत्यपराक्रम ॥
(रामायण ५।३३।२६)

अपने कुटुम्बियों के प्रति उनका व्यवहार कितना कोमल तथा सहानुभूतिपूर्ण है। सीता के प्रति राम के प्रेम का वर्णन करते समय आदिकवि ने मानस तत्त्व का बड़ा ही सूक्ष्म निरीक्षण प्रस्तुत किया है। राम सीता के वियोग में चार कारणों से सन्तप्त हो रहे हैं—सीता के प्रति उनके परिताप का कारण चतुर्मुखी है। धर्मशास्त्र आपत्ति में स्त्री की रक्षा करने का उपदेश देता है, परन्तु राम से यह न हो सका, अतः वह अबला स्त्री की रक्षा न कर सकने के

कारण 'कारुण्य' से सन्तप्त हैं। वन में सीता राम की आश्रिता थीं, परन्तु राम ने अपने आश्रित की रक्षा नहीं की, अतः 'आनृशंस्य'—आश्रित जनों के संरक्षक स्वभाव से सन्तप्त हैं। सीता उनकी पत्नी सहधर्मिणी ठहरीं। उनके नष्ट होने पर श्रीराम के धर्म का पालन क्योंकर हो सकेगा, अतः शोक से। वे उनकी प्रिया, प्रियतमा ठहरीं, परम सुख की साधिका ठहरीं। उस परम लावण्यमयी स्त्री के नाश ने उनके हृदय में अतीत के उस आनन्दमय जीवन की मधुर स्मृति जगा दी है—इस कारण 'प्रेम' से। इन नाना भावों के कारण सीता के वियोग में राम सन्तप्त हो रहे हैं—

स्त्री प्रणष्टेति कारुण्यादाश्रितेत्यानृशंस्यतः ।
पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेन च ॥
(रामायण ५।१५।४९)

लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम ने भ्रातृप्रेम के विषय मे जो उद्गार निकाले हैं, उनका समता भला किसी अन्य सुशिक्षित कहलानेवाले देश के साहित्य में भी कभी मिल सकती है? यदि मनुष्य चाहे तो एक देश के बाद दूसरे देश में उसे विवाहयोग्य स्त्रियाँ मिल सकती हैं, प्रत्येक देश में मित्र भी मिल सकते हैं, परन्तु मैं उस देश को नहीं देखता, जहाँ सहोदर भ्राता मिल सके। धन्य हैं भगवान् रामचन्द्र। केवल इस उक्ति के अनूठेपन पर समस्त साहित्य को न्योछावर कर देने का मन होता है। यह सूक्ति हृदय पर कितनी चोट कर रही है—

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः ।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥

रामचन्द्र की 'शरणागत-वत्सलता' का चरम दृष्टान्त है—अपने मायावी शत्रु के भाई विभीषण को आश्रय प्रदान करना। उनके औदार्य की झलक रावणवध के होने के बाद रावण दाह-संस्कार के समय मिलती है। राम का कहना है कि रावण जिस प्रकार विभीषण का सगा सम्बन्धी है, उसी प्रकार उनका भी है। रावण की मृत्यु के साथ-साथ उनका उसके प्रति वैर-भाव भी शान्त हो गया है। अब वैर लेने की क्या आवश्यकता रह गई?

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम् ।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥

सीता-चरित्र

भगवती जनक-नन्दिनी के शील-सौन्दर्य की ज्योत्स्ना किस व्यक्ति के हृदय को शीतलता तथा शान्ति नहीं प्रदान करती ? जानकी का चरित्र भारतीय ललना के महान् आदर्श का प्रतीक है। रावण के बारबार प्रार्थना करने पर भी सीता ने जो अवहेलना-सूचक वचन कहा है, वह भारतीय नारी के गौरव का सदा उद्घोषित करता रहेगा। इस निशाचर रावण से प्रेम करने की बात तो दूर रहो, मैं तो इसे अपने पैर से—नहीं-नहीं, बायें पैर से—भी नहीं छू सकती—

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम् ।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम् ॥

(रामायण ५।२६।१०)

रावण की मृत्यु के अनन्तर राम ने सीता के चरित्र की विशुद्धि सामान्य जनता के सामने प्रकट करने के लिये अनेक कटुवचन कहे। उन वचनों के उत्तर में सीता के वचन इतने मर्मस्पर्शी हैं कि आलोचक का हृदय आनन्दातिरेक से गद्गद हो जाता है। सीता जी के कतिपय कथनों पर दृष्टि डालिये। मनुष्य उसी वस्तु के लिये उत्तरदायी हो सकता है, जिसपर उसका अधिकार हो। मैं अपने हृदय की स्वामिनी हूँ। वह सदा आप के चिंतन में निरत रहता है। अङ्गों पर मेरा अधिकार नहीं। वे पराधीन ठहरे। रावण ने बलात्कार से उनका स्पर्श कर लिया तो इसमें मेरा क्या अपराध है ?

मदधीनं तु यत्तन्मे हृदयं त्वयि वर्तते ।
पराधीनेषु गात्रेषु किं करिष्याम्यनीश्वरा ॥

'मेरे चरित्र पर लाञ्छन लगाना कथमपि उचित नहीं है। मेरे निर्बल अंश को आपने पकड़कर आगे किया है, परन्तु मेरे सबल अंश को पीछे ढकेल दिया है। नारी का दुर्बल अंश है—उसका स्त्रीत्व और उसका सबल अंश है—उसका पत्नीत्व तथा पातिव्रत। नर शार्दूल ! आप मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं, परन्तु

क्रोध के आवेश में आपका यह कहना साधारण मनुष्यों के समान है आपने मेरे स्त्रीत्व को तो दोषारोपण करने के निमित्त आगे किया है, परन्तु आपने इस बात पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया कि बालकपन में ही आपने मेरा पाणिग्रहण किया, आपकी मैं शास्त्रानुमोदित धर्मपत्नी हूँ। मैं आपकी भक्ति करती हूँ तथा मेरा स्वभाव निश्चल और पवित्र है। आश्चर्य है आप जैसे नर-शार्दूल ने मेरे स्वभाव को, भक्ति को तथा पाणिग्रहण को पीछे ढकेल दिया, केवल स्त्रीत्व को आगे रखा है—

> त्वया तु नरशार्दूल ! क्रोधमेवानुवर्तता ।
> लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम् ॥
> न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीडितः ।
> मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम् ॥

कितनी ओजस्विता भरी है इन सीधे-सादे निष्कपट शब्दों में ! अनादृता भारतीय ललना का यह हृदयोद्गार कितना हृदय भेदक है ! सुनते ही सहृदय मनुष्य की आँखों से सहानुभूति के आँसू छलक पड़ते हैं।

राम और सीता का निर्मल चरित्र वाल्मीकि की कोमल काव्य—प्रतिभा का मनोरम निदर्शन है। रामायण हमारा जातीय महाकाव्य है। वह भारतीय हृदय का उच्छ्वास है। यह मानव-जीवन राम-दर्शन के बिना निरर्थक है—'राम दर्शन' उभय अर्थ में—राम कर्तृक दर्शन (राम के द्वारा देखा जाना) तथा राम-कर्मक-दर्शन (राम को देखना)। राम जिसको नहीं देखते, वह लोक में निन्दित है। और जो व्यक्ति राम को नहीं देखता, उसका भी जीवन निन्दित है। उसका अन्तःकरण स्वयं उसकी निन्दा करने लगता है—

> यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति ।
> निन्दितः स भवेल्लोके स्वात्माप्येनं विगर्हते ॥

मानवता की कसौटी

महर्षि वाल्मीकि की दृष्टि में 'चरित्र' ही मानवता की कसौटी है। चरित्र से युक्त मनुष्य की खोज तथा उसका विशद वर्णन ही रामायण का मुख्य उद्देश्य है। वाल्मीकि ने महर्षि नारद से यही जिज्ञासा की है—

चारित्रेण च को युक्तः ।

चरित्र ही मानव को देवता बनाता है। इस चरित्र का पूर्ण विकाश मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र में दृष्टिगोचर होता है। रामचरित्र ही आर्यचरित्र का आदर्श है और वह मानवता की चरम अभिव्यक्ति है। राम में मानसिक विकास की ही पूर्णता लक्षित नहीं होती, अपि तु शारीरिक सौन्दर्य का भी मञ्जुल पर्यवसान उनमें उपलब्ध होता है (द्रष्टव्य सुन्दर काण्ड, अध्याय ३५)। राम में धैर्य का चूडान्त दृष्टान्त हमें मिलता है। साधारण मनुष्य जीवन के साफल्यभूत राज्य से बहिर्भूत होने पर कितना व्यथित तथा आर्त होता है, यह अनुभव से हमें भलीभाँति पता चलता है। परन्तु राम के ऊपर इस निर्मम घटना का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। वे महनीय हिमालय के समान अडिग तथा अडोल खड़े होकर विपत्ति के दुर्दान्त तरंगों को अपने विशाल वक्षःस्थल के ऊपर सहते हैं, परन्तु उनके चित्त में किसी प्रकार का विकार लक्षित नहीं होता —

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम् ।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥
—अयोध्या १६।३३

इसका कारण यह था कि उनमें समत्व बुद्धि का प्रकृष्ट विलास दृष्टिगोचर होता है। भगवद्गीता के अनुसार आदर्श मानव में जिन गुणों का सद्भाव रहता है रामचन्द्र उन समग्र गुणों का जीवन्त मूर्ति थे। विषमबुद्धि ही परिस्थिति के विपर्यय से परिताप का आयतन बनता है, परन्तु समबुद्धि विषम विपर्यय में भी परिताप को अपने पास फटकने नहीं देता। समबुद्धि तथा समदर्शी राम परिताप करने से इसीलिए कोसों दूर हैं।

राम क्षात्र धर्म के साकार विग्रह हैं। भारतवर्ष का क्षत्रियत्व राम के नस-नस में व्याप्त हो रहा है। ऋषियों के विशेष आग्रह करने पर राम राक्षसों के मारने की विकट प्रतिज्ञा करते हैं। सीता क्षात्रधर्म के सेवन से बुद्धि के मलिन होने की बात सुनाकर उन्हें इस कार्य से विरत करना चाहती हैं,—

कदर्यं कलुषा बुद्धिर्जायते शस्त्र सेवनात्
पुनर्गत्वा त्वयोध्यायां क्षात्रधर्मं चरिष्यसि ॥

अरण्य ९।२८

परन्तु राम इस प्रेममय उपालम्भ का तिरस्कार कर डंके की चोट क्षत्रियत्व के आदर्श को प्रकट करते हैं।

क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्त-शब्दो भवेदिति।

—अरण्य १०।३

क्षत्रियों के द्वारा धनुष धारण करने की यही आवश्यकता है कि पीड़ितों का शब्द ही कहीं न हो। जगत् की रक्षा का भार धनुर्धारी क्षत्रियों के ऊपर सर्वदा रहता ही है।

राम सत्य तथा प्रतिज्ञा-पालन के महनीय व्रती हैं। सत्यनिष्ठा तथा प्रतिज्ञा निर्वाह के महनीय व्रत के कारण वे संसार में महिमा-सम्पन्न माने जाते हैं। जाबालि ने राम को अयोध्या लौट जाने तथा सिंहासन पर आसीन होने के लिए कम युक्तियों का व्यूह नहीं रचा। परन्तु राम अपने सत्य से, पिता के सामने की गई प्रतिज्ञा से, रंचक मात्र भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने बड़े आग्रह से कहा कि न तो लोभ से, न मोह से न अज्ञान से मैं सत्य के सेतु को तोड़ूँगा। पिता के सामने प्रतिज्ञा का निर्वाह अवश्य करूँगा—

नैव लोभान्न मोहाद्वा न ह्यज्ञानात् तमोन्वित।
सेतु सत्यस्थ भेत्स्यामि गुरो सत्यप्रतिश्रव ॥

—अयोध्या १०९।१७

सीताजी के द्वारा बारम्बार क्षात्रधर्मानुकूल प्रतिज्ञा-पालन से पराङ्मुख किये जाने पर राम का क्षत्रियत्व उबल उठता है। वे डंके की चोट पुकार उठते हैं—मैं अपने प्राणों को भी छोड़ सकता हूँ। हे सीते, लक्ष्मण के साथ तुम्हें भी छोड़ सकता हूँ, परन्तु प्रतिज्ञा कभी नहीं छोड़ सकता, विशेष कर ब्राह्मणों के साथ की गई प्रतिज्ञा तो मेरे लिए नितान्त अपरिहार्य है—

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् ।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ॥
—अरण्य १०।१९

राजा की महिमा

वाल्मीकि आर्यधर्म के रहस्य का उद्घाटन करते हैं जब वे कहते हैं कि आर्यजीवन धर्मबन्ध से बँधा हुआ है। मानव भारतीय संस्कृति के अनुसार स्वतन्त्र प्राणी तो अवश्य है, परन्तु समग्र मानव एक दूसरे से धर्मसम्बन्ध में बँधकर एक दूसरे के हित-चिन्तन तथा हिताचरण में संलग्न है तथा अपने निर्दिष्ट नैतिक मार्ग से एक पग भी नहीं डिगता। भरत अपने शुद्ध भावों की सफाई देते कह रहे हैं कि धर्मबन्धन के कारण ही मैं वध करने योग्य भी पापाचारिणी माता को मार नहीं डालता (अयोध्या १०६।८)

वाल्मीकि समग्र राष्ट्र के हितचिन्तक कवि हैं। राष्ट्र का केन्द्र है राजा। भारतीय राजा पाश्चात्य राजाओं के समान प्रजाओं की इच्छाओं का दलन करनेवाला स्वेच्छाचारी नरपति नहीं होता प्रत्युत वह प्रजाओं का रंजक (प्रकृतिरंजक), उनका हितचिन्तक तथा राष्ट्र का उन्नायक होता है। इस प्रसंग में 'अराजक जनपद' की दुरवस्था का वर्णन पढकर वाल्मीकि की मनोवृत्ति का हम अन्दाजा लगा सकते हैं। अयोध्याकाण्ड के ६७ वें सर्ग का 'नाराजके जनपदे' वाला लोकगायन भारतीय राजनीति के सिद्धान्तों का प्रकाशक एक महनीय वस्तु है। राजा राष्ट्र के धर्म तथा सत्य का उद्गम स्थल है (अयोध्या ६७।३३, ३४)। इसलिए उसके अभाव में राष्ट्र का कोई भी मंगल न सम्पन्न हो सकता है, न कोई कल्याण कल्पित हो सकता है।

नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः ।
शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्ष-जीविनः ॥
—अयोध्या ६७।१९

इस प्रकार वाल्मीकि भारतीय साहित्य के हृदय के ही प्रकाशक आदिकवि नहीं हैं, बल्कि वे भारतीय संस्कृति के संस्कारक मनीषी हैं।

कमनीय काव्यकला उनके रामायण के पद्यों में स्वत नाचती है और भारत की भव्य सस्कृति उनके पात्रों के द्वारा अपनी मनोरम झाँकी दिखाती है। इसीलिए कविता कल्पद्रुम के कमनीय कोकिल रूप वाल्मीकि का कूजन किसे आनद विभोर नहीं बनाता ?

'कूजन्त राम रामेति मधुर मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखा वन्दे वाल्मीकि-कोकिलम् ॥

५

महाभारत

व्यासगिरा निर्यास सार विश्वस्य भारत वन्दे ।
भूषणतयैव सज्ञा यदङ्किता भारती वहति ॥
—गोवर्धनाचार्य ।

रामायण तथा महाभारत हमारे जातीय इतिहास हैं । भारतीय सभ्यता का भव्यरूप इन ग्रन्थों में जिस प्रकार से फूट निकलता है वैसा अन्यत्र नहीं । कौरवों और पाडवों का इतिहास-वर्णन ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है, अपि तु हमारे हिन्दू धर्म का विस्तृत एव पूर्ण चित्रण भी प्रयोजन है । महाभारत का शान्तिपर्व जीवन की समस्याओं को सुलझाने का कार्य हजारों वर्षों से करता आ रहा है । इसलिए इस इतिहास ग्रन्थ को हम अपना धर्मग्रन्थ मानते आये हैं जिसका पठन-पाठन, श्रवण मनन, सब प्रकार से हमारा कल्याणकारक है । इस ग्रथ का सास्कृतिक मूल्य भी कम नहीं है । सच तो यह है कि केवल इसी ग्रन्थ के अध्ययन से हम अपनी सस्कृति के शुद्ध स्वरूप से परिचय पा सकते हैं । भारतीय साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'भगवद्गीता' इसी महाभारत का एक अश है । इसके अतिरिक्त 'विष्णुसहस्रनाम', 'अनुगीता', 'भीष्मस्तवराज', 'गजेन्द्रमोक्ष' जैसे आध्यात्मिक तथा भक्तिपूर्ण ग्रथ यहीं से उद्धृत किये गये हैं । इन्हीं पाँच ग्रन्थों को 'पंचरत्न' के नाम से पुकारते हैं । इन्हीं गुणों के कारण महाभारत 'पञ्चम वेद' के नाम

से विख्यात है। वाल्मीकि के समान व्यास जी भी संस्कृत के कवियों के लिये उपजीव्य हैं। महाभारत के उपाख्यानों का अवलम्बन कर ही कालान्तर में हमारे कवियों ने काव्य, नाटक गद्य, पद्य, चम्पू, कथा, आख्यायिका नाना-प्रकार के साहित्य की सृष्टि की है। इतना ही क्यों? जावा सुमात्रा के साहित्य में भी महाभारत विद्यमान है। वहाँ के लोग भी महाभारत के कथानक से उसी प्रकार शिक्षा ग्रहण करते हैं तथा पाण्डव चरित के अभिनय से उसी प्रकार अपना मनोरञ्जन करते हैं जिस प्रकार यहाँ के लोग। महाभारत इतना विशाल है कि व्यास जी का यह कथन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है—'इस ग्रन्थ में जो कुछ है वह अन्यत्र है, परन्तु जो कुछ इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है।'[1] प्राचीन राजनीति जानने के लिए हमें इसी ग्रंथ की शरण लेनी पड़ती है। विदुरनीति, जिसमें आचार तथा लोक-व्यवहार के नियमों का सुन्दर निरूपण है, महाभारत का ही एक अंश है। इस प्रकार ऐतिहासिक धार्मिक, राजनैतिक आदि अनेक दृष्टियों से महाभारत एक गौरवपूर्ण ग्रंथ है।

रचयिता

महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास का सम्बन्ध महाभारत के पात्रों के साथ बहुत ही घनिष्ठ है। उनकी माता का नाम सत्यवती था जो चेदिराज वसु उपरिचर के वीर्य से यमुना के किसी द्वीप में उत्पन्न हुई थी। मल्लाहों के राजा दाशराज के द्वारा जन्मकाल से ही उनकी रक्षा तथा पोषण हुआ था। यमुना के किसी द्वीप में जन्म के कारण व्यास जी 'द्वैपायन' कहलाते थे, शरीर के रंग के कारण 'कृष्णमुनि' तथा एक वेद के यज्ञीय उपयोग के लिए चार संहिताओं में विभाग करने के कारण 'वेदव्यास' के नाम से विख्यात थे। वे धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर के जन्मदाता ही न थे, प्रत्युत पाण्डवों को विपत्ति के समय छाया के समान अनुगमन करनेवाले थे तथा अपने उपदेशों से उन्हें धैर्य, ढाढस तथा न्यायपथ पर आरूढ़ रहने की शिक्षा

---

[1] धर्मे ह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥ —महाभारत।

दिया करते थे। कौरवों को युद्ध से विरत करने के लिए इन्होंने कोई भी प्रयत्न उठा नहीं रखा, परन्तु विषय-भोग के पुतले इन कौरवों ने इनके उपदेशों को लात मारकर अपनी करनी का फल खूब ही पाया। इनसे बढ़कर भारतीय युद्ध के वर्णन करने का अधिकारी कोई भी विद्वान् न था। इन्होंने तीन वर्षों तक सतत परिश्रम से—सदा उत्थान से—इस अनुपम ग्रन्थ की रचना की —

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम् ॥
(आदिपर्व—५६।३२)

ऐसे महनीय ग्रन्थ की तीन वर्षों के भीतर रचना का कार्य ग्रन्थकार की अनुपम काव्यप्रतिभा तथा अदम्य उत्साह का पर्याप्त सूचक है।

आजकल महाभारत में एक लाख श्लोक मिलते हैं। इसलिए इसे 'शतसाहस्री संहिता' कहते हैं। इसका यह स्वरूप कम से कम डेढ़ हजार वर्ष से अवश्य है, क्योंकि गुप्तकालीन शिलालेख में यह 'शतसाहस्री संहिता' के नाम से उल्लिखित हुआ है। विद्वानों का कहना है कि महाभारत का वह रूप अनेक शताब्दियों में विकसित हुआ है। बहुत प्राचीन काल से अनेक गाथाएँ तथा आख्यान इस देश में प्रचलित थे जिनमें कौरवों तथा पाण्डवों की वीरता का वर्णन किया गया था। अथर्ववेद में परीक्षित का आख्यान उपलब्ध होता है। अन्य वैदिक ग्रन्थों में यत्रतत्र महाभारत के वीर पुरुषों की बातें उल्लिखित मिलती हैं। इन्हीं सब गाथाओं तथा आख्यानों को एकत्र कर महर्षि वेदव्यास ने जिस काव्य का रूप दिया है वही आजकल का सुप्रसिद्ध महाभारत है। इसके विकास के तीन क्रमिक स्वरूप माने जाते हैं—(१) जय, (२) भारत, (३) महाभारत। इस ग्रन्थ का मौलिक रूप 'जय' नाम से प्रसिद्ध था। इस ग्रन्थ में नारायण[1], नर, सरस्वती देवी को नमस्कार कर जिस 'जय' नामक ग्रन्थ के पठन का विधान है वह 'महाभारत'

---

[1] नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥
महाभारत—मंगल-श्लोक।

का मूल प्रतीत होता है। वहीं स्वयं लिखा हुआ है कि इसका प्राचीन नाम जय था[1]। पाण्डवों के विजय वर्णन के कारण ही इस ग्रन्थ का ऐसा नामकरण किया गया है। (२) भारत—दूसरी अवस्था में इसका नाम 'भारत' पड़ा। इसमें उपाख्यानों का समावेश नहीं था। केवल युद्ध का वर्णन ही प्रधान विषय था। इसी भारत को वैशम्पायन ने पढ़कर जनमेजय को सुनाया था।[2]

(३) महाभारत—विक्रम से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व विरचित आश्वलायन गृह्यसूत्र में 'भारत' के साथ 'महाभारत' का नाम निर्दिष्ट है। अत यह रूप भी दो हजार वर्ष से पुराना ही प्रतीत होता है। भारत के वर्तमान रूप में परिबृंहण का कार्य उपाख्यानों के जोड़ने से ही निष्पन्न हुआ है। इन उपाख्यानों में कुछ तो प्राचीन ऋषि तथा राजाओं के जीवन से सम्बद्ध होने के कारण घटना-प्रधान हैं, कतिपय ऐतिहासिक होने से प्राचीन इतिहास की अमूल्य निधि हैं, कतिपय तत्कालीन लोक-कथा के ही साहित्यिक संस्करण हैं और इस दृष्टि से इनकी तुलना जातकों के साथ की जा सकती है। अध्यात्म, धर्म तथा नीति की विशद विवेचना ने इस महाभारत को भारतीय धर्म तथा संस्कृति का विशाल 'विश्वकोष' बनाने में कुछ उठा नहीं रखा है। डाक्टर सुकथनकर का प्रमाणपुष्ट मत है[3] है कि भृगुवंशी ब्राह्मणों के द्वारा किये गये सम्पादनों का ही फल है महाभारत का वर्तमान वृद्धिगत रूप। कुलपति शौनक स्वयं भार्गव थे, उनकी पहली जिज्ञासा भार्गववंश के कथा सुनने की थी—

तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम्।

---

[1] 'जय' नामेतिहासोऽयम्।

[2] चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावत् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥ —महाभारत।

[3] भंडारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट की पत्रिका भाग १८, पृ० १, ७६ तथा नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ४५, पृ० १०५–१६२।

महाभारत के नाना उपाख्यानो का सम्बन्ध स्पष्टरूप से भार्गवों के साथ है। और्व (आदि), कार्तवीर्य (वन), अम्बोपाख्यान (उद्योग) विपुला (शान्ति), उत्तङ्क (अश्व०)—इन समग्र विख्यात आख्यानों का सीधा सम्बन्ध भार्गवों के साथ है। आदि पर्व के प्रथम ५३ अध्याय (पौलोम तथा पौष्यपर्व) भार्गववशीय कथा से अपना सम्बन्ध रखते हैं। आजकल महाभारत की 'शतसाहस्री सहिता' के नाम से प्रख्याति का कारण इसके एकलक्ष परिमित श्लोकों की सख्या ही है। यह सख्या अठारहो पर्वों के श्लोकों के साथ हरिवश के श्लोको को मिलाने से ही सिद्ध होती है। इसी लिए 'हरिवश' महाभारत का परिशिष्ट माना जाता है। महाभारत के दो प्रधान पाठ सम्प्रदाय हैं, एक उत्तर भारत का, दूसरा दक्षिण भारत का। दोनों की श्लोक सख्या, अध्यायों के क्रम, आख्यानो का सन्निवेश—आदि विषयो में महान् अन्तर है। मूल महाभारत की खोज बहुत दिनों से हो रही है। आजकल भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना से एक सस्करण निकल रहा है जिसमें इस ग्रथ के विशुद्ध रूप को निश्चित करने का सफल उद्योग है।

रचना काल

४४५ ई० (५०२ वि०) के एक शिलालेख में महाभारत का निर्देश इस प्रकार है—'शतसाहस्र्या सहिताया वेदव्यासेनोक्तम्'। इससे प्रतीत होता है कि इससे कम से कम २०० वर्ष पहले इसका अस्तित्व अवश्य होगा। कनिष्क के सभापण्डित अश्वघोष ने 'वज्रसूची' उपनिषद् में हरिवश के श्लोक तथा स्वय महाभारत के भी कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं।[1] अश्वघोषका समय ई० सन् की प्रथम शताब्दी है। अतः उस समय यह ग्रथ हरिवश के साथ लक्षश्लोकात्मक था, इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। आश्वलायन गृह्यसूत्र (३।४।४) में 'भारत' तथा 'महाभारत' का पृथक् पृथक् उल्लेख

---

[1] सप्त व्याधा दशार्णेषु मृगाः कालञ्जरे गिरौ।

किया गया है[1]। बौधायन के गृह्यसूत्र में 'विष्णुसहस्रनाम' का स्पष्ट उल्लेख है तथा भगवद्गीता का एक श्लोक प्रमाण रूप से उद्धृत किया गया है।[2] इन दोनों ग्रंथकारों की स्थिति ईस्वी के लगभग चार सौ वर्ष पहले मानी जाती है। ये दोनों ग्रंथकार महाभारत के विस्तृत रूप से परिचित हैं। गीता को भगवान् के वचनरूप से जानते हैं। ययाति के उपाख्यान का निर्देश करते हैं। अतः स्पष्ट है कि मूल महाभारत की रचना इससे (४०० ई० पू०) कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व अवश्य हुई होगा। महाभारत बुद्ध के पहले की रचना है, परन्तु वर्तमान रूप उसे बुद्ध के पीछे प्राप्त हुआ, यही मानना न्याय-संगत है।

ग्रंथ परिचय

महाभारत के खण्डों को पर्व कहते हैं। ये संख्या में अठारह हैं (१) आदि (२) सभा (३) वन (४) विराट् (५) उद्योग (६) भीष्म (७) द्रोण (८) कर्ण (९) शल्य (१०) सौप्तिक (११) स्त्री (१२) शान्ति (१३) अनुशासन (१४) अश्वमेध (१५) आश्रमवासी (१६) मौसल (१७) महाप्रस्थानिक (१८) स्वर्गारोहण। आदि पर्व में चन्द्रवंश का विस्तृत इतिहास तथा कौरव पाण्डवों की उत्पत्ति का वर्णन है। सभा पर्व में है द्यूतक्रीड़ा, वन पर्व में पाण्डवों का वनवास, विराटपर्व में पाण्डवों का अज्ञातवास, उद्योग पर्व में श्रीकृष्ण का दूत बनकर कौरवों की सभा में जाना तथा शान्ति का उद्योग करना, भीष्म पर्व में अर्जुन को गीता का उपदेश, युद्ध का आरम्भ, भीष्म का युद्ध और शरशय्या पर पड़ना, द्रोण पर्व में अभिमन्यु

---

[1] सुमन्तुजैमिनिवैशम्पायनपैल सूत्रभारतमहाभारतधर्माचार्याः ।
—आश्वलायन गृह्य०, अध्याय ३, खण्ड ४।

[2] देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुर्यात् मनसा वाचयेत् इति तदाह भगवान् —

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
(गीता ९।२६)

वध, द्रोणाचार्य का युद्ध और वध, कर्ण पर्व में कर्ण का युद्ध और वध, शल्य पर्व में शल्य की अध्यक्षता में लड़ाई और अन्त में वध, सौतिक पर्व में पाण्डवों के सोये हुए पुत्रों का रात में अश्वत्थामा द्वारा वध, स्त्री पर्व में स्त्रियों का विलाप, शान्तिपर्व में भीष्म पितामह का युधिष्ठिर को मोक्षधर्म का उपदेश, अनुशासन पर्व में धर्म तथा नीति की कथाएँ, अश्वमेध में युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ करना, आश्रमवासी पर्व में धृतराष्ट्र गन्धारी आदि का वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना, मौसल पर्व में यादवों का मूसल के द्वारा नाश, महाप्रस्थानिक पर्व में पाण्डवों की हिमालय-यात्रा तथा स्वर्गारोहण पर्व में पाण्डवों का स्वर्ग में जाना वर्णित है।

इनके अतिरिक्त महाभारत में अनेक रोचक तथा शिक्षाप्रद उपाख्यान भी हैं जिनमें निम्नलिखित आख्यान विशेष प्रसिद्ध हैं—

(१) शकुन्तलोपाख्यान—यह उपाख्यान महाभारत के आदिपर्व में है जिसमें दुष्यन्त और शकुन्तला की मनोहर कथा है। महाकवि कालिदास के 'शकुन्तला' नाटक का आधार यही आख्यान है।

(२) मत्स्योपाख्यान—यह वनपर्व में है। इसमें मत्स्यावतार की कथा है जिसमें प्रलय उपस्थित होने पर मत्स्य के द्वारा मनु के बचाये जाने का विवरण है। यह कथा 'शतपथ' ब्राह्मण में भी उपलब्ध होती है तथा भारत से भिन्न देशों के इतिहास में भी इसका उल्लेख मिलता है।

(३) रामोपाख्यान—यह भी कथा वनपर्व में है। वाल्मीकीय रामायण की कथा का यह संक्षेपमात्र है। वाल्मीकि ने बालकाण्ड में गंगावतरण की जो कथा लिखी है, वह भी यहाँ उपलब्ध होती है। इससे स्पष्ट है कि वाल्मीकीय रामायण महाभारत से पहले लिखा गया।

(४) शिवि उपाख्यान—यह सुप्रसिद्ध कथानक वनपर्व में ही है जिसमें उशीनर के राजा शिवि ने अपना प्राण देकर शरण में आए कपोत की रक्षा बाज से की थी। यह कथा जातकों में भी आती है।

(५) सावित्री उपाख्यान—भारतीय ललनाओं के लिये आदर्शरूप सावित्री की कथा वनपर्व में मिलती है। महाराज द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान्

तथा सावित्री का उपाख्यान पतिव्रत धर्म की पराकाष्ठा है। ऐसी सुन्दर कथा शायद ही किसी अन्य साहित्य में प्राप्त हो।

(६) नलोपाख्यान—राजा नल और दमयन्ती की कमनीय कथा इसी पर्व में मिलती है। श्रीहर्ष के 'नैषधचरित' महाकाव्य का यही आधार है।

हरिवंश महाभारत का ही अंश समझा जाता है। इसमें सोलह हजार श्लोक हैं जिसमें यादवों की कथा बड़े विस्तार के साथ दी गई है। इसमें तीन पर्व हैं—(१) हरिवंशपर्व–जिसमें श्रीकृष्ण के पूर्वजों का वर्णन है, (२) विष्णुपर्व—जिसमें श्रीकृष्ण लीला का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है, (३) भविष्यपर्व—जिसमें कलियुग के प्रभाव का कथन है।

महाभारत के टीकाकार

महाभारत के टीकाकारों की एक दीर्घ परम्परा है जिसके अन्तर्गत बड़े विद्वान् तथा अध्यात्मवेत्ता सन्यासियों की गणना है। डा० सुखठणकर के अनुसार महाभारत के टीकाकारों के नाम निम्नलिखित हैं:—अनन्तभट्ट, अर्जुन मिश्र, आनन्द, चतुर्भुजमिश्र, जगदीश चक्रवर्ती, देवबोध नीलकण्ठ, महानन्द पूर्ण, यज्ञनारायण, रत्नगर्भ, रामकिंकर, रामकृष्ण, रामानुज, लक्ष्मण, वरद वादिराज, विद्यासागर, विमलबोध, शंकराचार्य, श्रीनिवास, सर्वज्ञनारायण, सृणिधर (२२)। इन बाइस टीकाकारों के अतिरिक्त अन्य टीकाकार ये हैं —गदानन्द ('भारत ज्ञान दीपक' नामक टीका के कर्ता, जिनकी टीका का हस्तलेख वंगीय साहित्य परिषद् में उपलब्ध है), बगद्दर, जनार्दन मुनि और विद्यानिधिभट्ट (जिन चारों का निर्देश आनन्दपूर्ण ने अपनी भारत-टीका में भारत टीकाकार के रूप में किया है), वैशम्पायन तथा शाण्डिल्य, माधवा (३०) (जिनमें प्रथम का निर्देश विमलबोध ने तथा अन्तिम दो का अर्जुन मिश्र ने अपनी टीकाओं में किया है) किसी रामकृष्ण की विरोधार्थ भगिनी व्याख्या तथा अज्ञातनामा लेखक का 'विषमपद विवरण' विराटपर्व के ऊपर प्रकाशित हैं। वादिराज के 'लक्षाभरण' की कुछ टिप्पणियाँ विराट तथा उद्योग पर्वों पर प्रकाशित हैं। आठ टीकाओं के साथ

विराट पर्व को १९.५ ई० में तथा पाँच टीकाओं के साथ उद्योग पर्व को १९२० में गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस ने प्रकाशित कर महाभारत के अनुशीलन कार्य में विशेष योग दान दिया है। 'निगूढपद बोधिनी' तथा 'भारतटिप्पणी' नामक अज्ञातनामा लेखकों की व्याख्या के अतिरिक्त उत्कल के कवीन्द्र (लगभग १६०० ई०) की 'भारत व्याख्या' मिलती है। वादिराज की व्याख्या का नाम 'लक्षश्लोकालंकार' भी है। आवगाचार्य ने मोक्षधर्म के ऊपर अपनी व्याख्या लिखी है। इस प्रकार महाभारत के ३६ टीकाकारों का पता पूर्णरूप से चलता है। इन टीकाकारों में से अनेक के तो नाम ही यत्र तत्र निर्दिष्ट हैं तथा कतिपय टीकाकारों की टीका एक पर्व पर अथवा अनेक पर्व पर मिलती है। ऐसे श्लाघ्य टीकाकार भी हैं जिनकी टीका भारत के १८ पर्वों पर उपलब्ध होती है। इनमें प्रख्यात कतिपय टीकाकारों का काल-क्रम से संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है —

(१) देवबोध या देवस्वामी। महाभारत के सर्वप्राचीन उपलब्ध टीकाकार हैं जिनका उल्लेख पिछले टीकाकारों ने बड़े आदर तथा सम्मान के साथ किया है। इनकी टीका आदि[1] तथा उद्योग[2] पर्व के ऊपर प्रकाशित भी हो चुकी है। टीका की पुष्पिका में ये परमहंस परिव्राजकाचार्य कहे गये हैं। फलतः ये अद्वैतवादी संन्यासी थे। इनके गुरु का नाम सत्यबोध मिलता है। इनके व्यक्तित्व के विषय में इतना ही ज्ञात है। इनकी टीका का नाम 'ज्ञानदीपिका' है। यह विस्तृत नहीं है, कठिन शब्दों का अर्थ देकर यह विषम स्थलों का तात्पर्य भी देती है। यह टीका अत्यन्त प्रामाणिक मानी जाती है। इसका प्रभाव पिछले टीकाकारों पर प्रचुर मात्रा में है। और मतभेद होने पर भी टीकाकारों ने इनका उल्लेख बड़े आदर तथा सम्मान के साथ किया है। अर्जुनमिश्र के द्वारा यह श्लाघ्य स्तुति टीकाकारों के हार्दिक भाव को प्रकट करती है—

---

[1] डा० दाण्डेकर के सम्पादकत्व में पूना से।

[2] डा० डे के सम्पादकत्व में विद्याभवन, बम्बई से प्रकाशित।

वेदव्यासमुखाम्भोजगलित वाङ्मयामृतम्
सम्भोजयन्त भुवन देवबोध भजामहे ॥

विमलबोध ने इनके मतका उल्लेख अपनी टीका मे किया है। फलतः इनका समय ११५० ईस्वी से पूर्व होना चाहिए।

(२) वैशम्पायन—मोक्षधर्म अर्थात् शान्तिपर्व के ऊपर लिखी इनकी व्याख्या उपलब्ध है। विमलबोध ने अपनी 'विषम श्लोकी' नामक महाभारत व्याख्या में इनके नाम का उल्लेख किया है—

वैशम्पायनटीकादि देवस्वामिमतानि च ।
वीक्ष्य व्याख्या विरचिता दुर्घटार्थप्रकाशिनी ॥

अत इनका आविर्भावकाल ११५० ईस्वी से पूर्व होना चाहिए। देवबोध तथा विमलबोध के बीच की व्याख्याशृंखला वैशम्पायन के द्वारा निश्चितरूप से निर्मित की गई है।

(३) विमलबोध—इनकी व्याख्या अठारहों पर्वों के ऊपर उपलब्ध होती है फलत इनका महत्त्व प्रौढ टीकाकारो मे समधिक वैशिष्ट्यपूर्ण है। इन्होंने अपनी टीका मे धर्मनिबन्धकार के रूप मे धारेश्वर (भोज) का, उनके प्रख्यात ग्रथ 'सरस्वती कण्ठाभरण' का तथा उनके अज्ञातपूर्व ग्रन्थ 'व्यवहार मञ्जरी' का सप्रमाण उल्लेख किया है। भोजराज का समय १०१० ई० से लेकर १०५५ तक साधारणतया माना जाता है। १०६२ ई० के पीछे उनका समय कथमपि नहीं है। इस उल्लेख के कारण विमलबोध का समय ११५० ई० के आसपास मानना उचित प्रतीत होता है। इस समय की सत्यता की पुष्टि आनन्दपूर्ण विद्यासागर (१३५० ई०) के द्वारा विद्यासागरी टीका में उल्लेख से भी होता है। विमलबोध का समय धारेश्वरभोज तथा आनन्दपूर्ण के बीच में है। इनकी टीका का नाम है—विषमश्लोकी या दुर्घटार्थप्रकाशिनी या दुर्बोधपदभञ्जिनी है और यह विराट तथा उद्योगपर्व के ऊपर प्रकाशित हुई है (गुजराती प्रिंटिंग प्रेस)।

(४) नारायण सर्वज्ञ—यह टीकाकार कहीं सर्वज्ञनारायण या केवल नारायण नाम से भी निर्दिष्ट किया गया है। मनुस्मृति के टीकाकारों में भी 'सर्वज्ञ नारायण' अन्यतम हैं जिनका समय काणे के अनुसार ११३०–१३०० ई० है। मनु टीका का नाम मन्वर्थवृत्ति निबन्ध है जो मनु की प्रख्यात टीका मानी जाती है। ये दोनों सर्वज्ञ नारायण अभिन्न व्यक्ति माने जाते हैं। इनकी टीका के विस्तार का ठीक ठीक पता नहीं चलता कि वह कितने पर्वों के ऊपर है। विराट तथा उद्योग पर्व की टीका प्रकाशित है। इस टीका का प्रभाव टीकाकारों के ऊपर विशेष पड़ा। उद्योगपर्व की टीका के परिशिष्ट रूप में अर्जुन मिश्र ने इस कूट श्लोक का व्याख्यान सर्वज्ञ-नारायण के मतानुसार किया है।

विष भुङ्क्ष्व महामन्त्यै विनाशं प्राप्नुहि ध्रुवम् ।
विना केन विना नाभ्या स्फीत कुण्डलिन वरम् ।

अतः अर्जुन मिश्र के ऊपर इनके स्पष्ट प्रभाव का संकेत इससे स्पष्ट है। इनकी टीका का नाम 'भारतार्थ प्रकाश' है।

(५) चतुर्भुज मिश्र—ये भी महाभारत के एक मान्य टीकाकार हैं। इनके समय का परिचय अनेक साधनों से मिलता है। इन्होंने अपनी टीका में मेदिनी कोष को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। मेदिनी का समय १२०० ई०–१२७५ ई० के बीच माना जाता है। उधर आनन्दपूर्ण विद्यासागर ने (१३५० ई०) अपनी विद्यासागरी टीका में चतुर्भुज मिश्र का निर्देश किया है। फलतः इनका समय दोनों के मध्य में कभी मानना होगा। १३०० ई० के आसपास सर्वज्ञ नारायण के अनन्तर इन्हें स्थान देना समुचित होगा। टीका का नाम भारतोपायप्रकाश है जो केवल विराट पर्व पर प्रकाशित है।

चतुर्भुज मिश्र के द्वारा रचित अमरुशतक की एक व्याख्या (भाव चिन्तामणि) का पता चलता है जिसमें ये अपने को 'काम्पिल्य' बतलाते हैं। फलतः ये कपिल (उत्तर प्रदेश के फतेहगढ़ के पास) के निवासी थे।

अर्जुनवर्मदेव (१२११ ई०–१२१५ ई०) के द्वारा रचित अमरुशतक की व्याख्या से वे परिचय रखते हैं। फलतः इनका समय १२५० ई० के अनन्तर तथा १६६० ई० पूर्व (जब इनकी टीका का हस्तलेख मिलता है) होना चाहिये। मेरी दृष्टि में महाभारत के टीकाकार चतुर्भुज मिश्र ही अमरुशतक के भी टीकाकार हैं। और इनका समय १३ वीं के अन्तिम भाग में मानना कथमपि अनुचित न होगा।

(६) आनन्दपूर्ण 'विद्यासागर'—ये १४ वीं शती के मध्य में एक प्रख्यात सन्यासी थे। विद्यासागर इनका उपनाम था। इनके गुरु का नाम था परमहंस परिव्राजकाचार्य अभयानन्द। अद्वैत वेदान्त के इतिहास में आनन्दपूर्ण एक महिमाशाली प्रौढ ग्रन्थकार हैं जिनकी दार्शनिक कृतियाँ ये हैं—(१) पञ्चपादिका टीका, (२)—न्यायकल्पलतिका (सुरेश्वराचार्य की बृहदारण्यवार्तिक की टीका), (३) भावशुद्धि (मण्डन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि की टीका), (४) खण्डन खाद्यटीका (विद्यासागरी), (५) महाविद्या विडम्बन टीका (१२२५ ई० के आसपास लिखित वादीन्द्र के प्रौढ ग्रन्थ की व्याख्या), (६) समन्वय सूत्र विवृत्ति (ब्रह्मसूत्र १।१।४ की टीका), (७) न्यायचन्द्रिका (चार परिच्छेदों में न्याय, मीमांसा तथा वैशेषिक के मतों का खण्डन) (८) वेदान्त विद्यासागर (वेदान्त का मौलिक ग्रन्थ), (९) प्रक्रियामञ्जरी। इनकी महाभारत पर टीका बहुत ही विस्तृत तथा पाण्डित्यपूर्ण है जिसमें प्राचीन टीकाकारों के मतों का उल्लेख विस्तार के साथ है। चार पर्वों की टीका उपलब्ध है—आदि पर्व (वरकौमुदी), सभा, भीष्म, शान्ति तथा अनुशासन पर्व (व्याख्या रत्नावली)। इनके समय का निर्धारण किया जा सकता है। ऊपर के छठे ग्रन्थ का हस्तलेख १४०५ ई० का तथा दूसरे ग्रन्थ का हस्तलेख १४३४ ई० का है। फलतः १४०० ईस्वी से इन्हें प्राचीन होना ही चाहिये। नौवें ग्रन्थ की रचना कामदेव[1] नामक राजा के समय की गई।

---

[1] श्री कामदेवे जगतीं प्रशासति
श्रीशैलकन्यापतिभक्तिधारिणि।
विद्योदवेलस्थितमेतदाराद्
टीकामृत भूसुरहर्षवर्धनम्॥

ये कामदेव गोवा में राज्य करनेवाले कदम्बवंशी नरेश थे जिनका शिलालेख १३१५ ई० का उपलब्ध होता है। फलतः आनन्दपूर्ण का समय १३५० ई० में अर्थात् १४ शती का मध्यभाग मानना उचित होगा। इन्होंने आदिपर्व की टीका (संस्कृत साहित्य परिषद् में उपलब्ध) में सात नये महाभारत के टीकाकारों का उल्लेख किया है जिनमें से अनेक टीकाकार एकदम नये हैं। इन व्याख्याकारों के नाम हैं—अर्जुन, शङ्कर, जनार्दन, मुनि, लक्ष्मण (टीका का नाम 'विषमोद्धारिणी' जो सभा तथा विराट पर्व पर उपलब्ध है), विद्यानिधि भट्ट तथा सुधिधर। विद्यासागर के द्वारा उद्धृत होने से इन सभी का समय १४ शती के मध्यकाल से निश्चित रूप से प्राचीन है।

(७) अर्जुनमिश्र

इनकी टीका का नाम 'भारतार्थदीपिका' और 'भारतसंग्रह दीपिका' है। इसका केवल एक अंश (विराट तथा उद्योग की टीका) ही अब तक प्रकाशित हुआ है। टीका की पुष्पिका में ये अपने को 'भारताचार्य' की महनीय उपाधि से विभूषित करते हैं। इनके पिता का नाम था—ईशान जो भारत के पाठक या पाठकराज थे और अपने पुत्र के समान ही 'भारताचार्य' की उपाधि धारण करते थे। ये बंगाल के निवासी तथा गंगा के तीरस्थ किसी नगर या ग्राम के वासी थे। अपने कुल का 'चम्पाहेटीय' या 'चम्पाहेटि' के नाम से निर्दिष्ट किया है जिससे सूचित होता है कि इनका कुल या परिवार 'चम्पाहेटी' नामक स्थान का निवासी था। कलकत्ते से १५ मील दक्षिण पश्चिम में 'चम्पाहाटी' नामक एक स्थान है। सम्भव है कि अर्जुन मिश्र का कुल यहीं का मूल निवासी था। इन्होंने अपने से प्राचीन टीकाकारों में देवबोध, विमलबोध, शाण्डिल्य तथा सर्वज्ञनारायण का उल्लेख किया है और ये स्वयं नीलकण्ठ (१७ शती का उत्तरार्ध) के द्वारा उद्धृत हुए हैं। इनकी 'अर्थदीपिका' देवबोध की प्रख्यात टीका के आदर्श पर निर्मित है। इसका संकेत इन्होंने अपनी टीका (उद्योगपर्व की) में स्पष्ट किया है। मोक्षधर्म पर इनकी टीका के हस्तलेख का समय १५३४ ईस्वी है। इन्होंने मेदिनी

काल (१२०० ई०—१२७५) का उद्धृत तथा सर्वज्ञ नारायण (१३ शती) का निर्देश किया है। फलतः इनका समय १४ शती का उत्तरार्ध (१३५० ई०—५०० ई०) माना जा सकता है। इनकी टीका अल्पाक्षर होने पर भी सारगर्भित है। सनत्सुजातीय पर्व की व्याख्या में अध्यात्मशास्त्र के सिद्धान्तों का बड़ा ही प्रामाणिक और पाण्डित्यपूर्ण विवेचन है। ये हरिवंश को भी महाभारत का अन्तिम पर्व मानते हैं और इसी लिए इनकी टीका हरिवंश के ऊपर भी उपलब्ध है।

(८) नारायण

ये पूर्वनिर्दिष्ट सर्वज्ञ नारायण से अवान्तरकालीन भिन्न टीकाकार हैं क्योंकि इन्होंने स्पष्ट नारायण सर्वज्ञ के मत की आलोचना कर अपनी व्याख्या की रचना की।[1] इन्होंने अर्जुन मिश्र का पूर्वटीकाकारों की गणना में उल्लेख किया है। फलतः इनका समय १४ शती के अनन्तर कभी होना चाहिये। इनकी टीका का नाम 'निगूढार्थ पद बोधिनी' है।

(९) वादिराज

यह टीकाकार दक्षिण भारत के निवासी थे। परन्तु इनके पाठ दक्षिणात्य कोश में पूर्णतया नहीं मिलते और न उत्तरीय कोश से मिलते हैं। इनके पाठ दोनों कोशों के बीच में कहीं हैं। विराट पर्व की टीका के अन्त में अपने मध्वगुरु को इन्होंने प्रणाम अर्पित किया है। फलतः ये माध्वमतानुयायी थे। समय १४५०—१५०० ई० के बीच। टीका का नाम 'लक्षाभरण' जो विराट तथा उद्योग पर्व के ऊपर प्रकाशित है (गुजराती प्रेस)।

---

[1] श्रीदेवबोध विमलबोध पाण्डित्य माधव
नारायणश्च सर्वज्ञोऽर्जुनमिश्रस्तथैव च।
एतेषां मतमालोच्य स्वमत्या च क्वचित् क्वचित्
कृता नारायणेनैव निगूढ-पद-बोधिनी॥

—मद्रास हस्तलेख

(१०) नीलकण्ठ

इनका पूरा नाम नीलकण्ठ चतुर्धर (चौधरी) है और इनके वंशज आज भी महाराष्ट्र में विद्यमान हैं। इनकी टीका 'भारत भावदीप' नितान्त प्रख्यात, बहुशः प्रकाशित हुई है।[1] यह महाभारत के १८ पर्वों पर उपलब्ध है। नीलकण्ठ के पूर्वज महाराष्ट्र के कूर्परग्राम (आजकल कोपरगाँव) के मूल निवासी थे परन्तु इस टीका की रचना काशी में की गई जहाँ वे आकर बस गये थे। नीलकण्ठ ने मन्त्ररामायण तथा मन्त्र भागवत नामक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है जिसमें रामायण और भागवत की कथा से सम्बद्ध मन्त्र ऋग्वेद से क्रमबद्ध संगृहीत हैं तथा नीलकण्ठ ने इनके ऊपर अपने सिद्धान्तानुसार टीका भी लिखी है। इनके एक ग्रन्थ का रचना काल १६९५ ईस्वी में मिलता है। फलतः इनका समय १७ वीं शती का उत्तरार्ध मानना उचित है।[2]

समीक्षण

संस्कृत साहित्य में आदिकवि वाल्मीकि के अनन्तर महर्षि व्यास ही सर्वश्रेष्ठ कवि हुए। इनके लिखित काव्य 'आर्ष काव्य' के नाम से प्रसिद्ध हैं। पिछली शताब्दियों में संस्कृत साहित्य की जो उन्नति हुई, जिन काव्य-नाटकों की रचना हो गई उसमें इन दो ग्रन्थों का प्रभाव मुख्य है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में इन कवियों की ओर बड़े आदर के शब्दों में संकेत किया है। व्यास की प्रतिभा की परिचायक यही घटना है कि युद्धों के वर्णन में कहीं भी पुनरुक्ति नहीं दीख पड़ती है। व्यास जी का अभिप्राय महाभारत लिखकर केवल युद्धों का वर्णन नहीं है, अपि तु इस भौतिक जीवन की निस्सारता दिखला कर प्राणियों को मोक्ष के लिये

---

[1] चित्रशाला प्रेस पूना से अनेक जिल्दों में प्रकाशित।

[2] इन टीकाकारों की विशेष चर्चा के लिए द्रष्टव्य Sukthankar Memorial Edition, (पूना, १९४४) खण्ड १ पृष्ठ २६३-२७७ तथा Gode Studies in Indian Literary History Vol I (बम्बई १९५३) पृष्ठ ४१३-४२०।

उत्सुक बनाना है। इसलिये महाभारत का मुख्य रस शान्त है। वीर तो अङ्गभूत है। इसमें प्राकृतिक वर्णन नितान्त अनूठे तथा नवीनता पूर्ण हैं। व्यास जी की यह कृति महाकाव्य न होकर इतिहास कही जाती है क्योंकि वह हमारे आदरणीय वीरों की पुण्यमयी गाथा है। यह वह धार्मिक ग्रंथ है जिससे प्रत्येक श्रेणी का मनुष्य अपने जीवन के सुधार की सामग्री प्राप्त कर सकता है। राजनीति का तो यह सर्वस्व ही है। राजा और प्रजा के पृथक् पृथक् कर्तव्यों तथा अधिकारों का समुचित वर्णन इसकी महती विशेषता है। वाल्मीकि के साथ साथ व्यास से भी हमारे कवियों को काव्यसृष्टि के लिये प्रेरणा तथा स्फूर्ति मिलती आई है और आगे भी मिलेगी। भगवद्गीता की महत्ता का प्रदर्शन करना अनावश्यक है। कर्म, ज्ञान और भक्ति का जैसा मञ्जुल समन्वय गीता में किया गया है वैसा अन्यत्र अप्राप्य है। व्यास जी का कथन है कि इस आख्यान को बिना जाने हुए जो पुरुष वेदाङ्ग तथा उपनिषदों को भले जाने वह कभी विचक्षण नहीं कहा जा सकता[1] क्योंकि यह महाभारत एक साथ ही अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा कामशास्त्र है[2]। जिसने इस आख्यान का रसमय श्रवण किया है उसे अन्य कथानकों में किसी प्रकार का रस नहीं मिलता, ठीक उसी प्रकार, जैसे कोकिल का मधुर कूक के आगे कौए की बोली नितान्त रूखी प्रतीत होती है[3]। महाभारत की प्रशंसा में व्यास ने स्वयं इसे समस्त कविजनों के लिए

---

[1] यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः ॥ ८२ ॥

[2] अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत् ।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥ ८३ ॥
—महा० आदि० अ० २

[3] श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते ।
पुंस्कोकिलगिरं श्रुत्वा रूक्षा ध्वाङ्क्षस्य वागिव ॥ ८४ ॥
—महाभारत आदिपर्व, अध्याय २

उपजीव्य बतलाया है। इस ग्रन्थ के अभ्यास से कवियों की बुद्धि में स्फूर्ति उत्पन्न होती है। व्यास जी का यह कथन अक्षरशः सत्य है। बाद के कविजनों ने सचमुच महाभारत से बहुत कुछ लिया है —

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कवि बुद्धय ।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रय ॥

× × ×

इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते ।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वर ॥

महाभारत के पात्रों में एक विचित्र सजीवता भरी हुई है। सब अपने अपने ढंग से निराले पात्र हैं। परन्तु धर्मराज में जो धार्मिकता दिखाई पड़ती है वह एक अद्भुत वस्तु है। महाभारत सदा से धर्मशास्त्र के रूप में ही ग्रहीत होता आया है और वस्तुतः वह है भी धर्म का ही प्रतिपादक ग्रन्थ। व्यासने अपना सन्देश मनुष्यों के लिए सुन्दर श्लोक में निबद्ध कर दिया है[1]। यदि मनुष्य सच्चा सुख का अभिलाषी है तो उसका परम कर्तव्य धर्म का सेवन ही है।

महाभारत का वैशिष्ट्य

महर्षि वेदव्यास ने भारतीय अर्थनीति, राजनीति तथा अध्यात्म शास्त्र के सिद्धान्तों का सारांश इतनी सुन्दरता से इस ग्रन्थरत्न में प्रस्तुत किया है कि यह वास्तव में भारत के धर्म तथा तत्वज्ञान का विश्वकोष है। धर्म ही भारतीय संस्कृति का प्राण है और इसीलिए व्यासजी ने अधर्म से देश का नाश तथा धर्म से राष्ट्र के अभ्युत्थान की बात बड़े ही सुन्दर आख्यानों के द्वारा हमें सिखलाई है। 'भारत सावित्री' (जो महाभारत की भव्य शिक्षा का सार संकलन माना जाता है) में व्यास की स्पष्ट उक्ति है कि धर्म

---

[1] ऊर्द्ध्वबाहुर्विरौम्येष, न च कश्चित् शृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स, किमर्थं न सेव्यते ॥

—महाभारत ।

का परित्याग किसी भी दशा में भय से या लोभ से कभी न करना चाहिए। धर्म शाश्वत है, चिरस्थायी है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्,
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुख-दुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

व्यास कर्मवादी आचार्य हैं। कर्म ही मनुष्य का एकमात्र लक्षण है, कर्म से पराङ्मुख मनुष्य मानव की पदवी से सदा वञ्चित रहता है।

प्रकाश-लक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः।
(अश्वमेध ४३।२०)

इसीलिए यह भव्य भारतभूमि कर्मभूमि है। फल भोगने का स्थान तो स्वर्ग है जो इस भूमि के छोड़ने के अनन्तर प्राप्त होता है। इस विशाल ब्रह्माण्ड में मनुष्य ही सबसे श्रेष्ठ वस्तु है जिसके कल्याण के लिए पदार्थों की सृष्टि होती है तथा समाज की व्यवस्था की जाती है। आज के समाजशास्त्रियों का यह सिद्धान्त कि मनुष्य ही इस विश्व का केन्द्र है व्यास के इस कथन पर आश्रित है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि।
नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्॥
(शान्ति १८०।१२)

मानवता का उन्नायक तत्त्व पुरुषार्थ ही है। व्यास के शब्दों में यह सिद्धान्त 'पाणिवाद' के नाम से विख्यात है। जगत् में जिन लोगों के पास 'हाथ' है—जो कर्म में दक्ष तथा उत्साही हैं—उनके सब अर्थ सिद्ध होते हैं। संसार में पाणिलाभ से बढ़कर लाभ का कोई दूसरा नहीं है। मानव जीवन की कृतकार्यता हाथ रखने तथा हस्त-सञ्चालन में ही तो है। हाथ रहते भी हाथ पर हाथ रखकर जीवन बिताना पशुत्व का व्यञ्जक चिह्न है। इसमें मानव की सिद्धार्थता नहीं है—

अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः ।
अतीव स्पृहये तेषां येषां सन्तीह पाणयः ।
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते ॥
(शान्ति १८०।११, १२)

राष्ट्रभावना

व्यासजी की राष्ट्रभावना बड़ी ही उदात्त, विशुद्ध तथा ओजस्विनी है। राजा राष्ट्र का केन्द्र होता है। भारतीय राजा प्रजातन्त्र युग के अधिनायकों के दुर्गुणों से सर्वथा मुक्त होता है तथा स्वेच्छाचारी राजाओं के दोषों से भी विहीन होता है। वह होता है प्रजा का [illegible] हितचिन्तक तथा मंगल-साधक। भारतीय धर्म ही राजमूलक होता है अर्थात् धर्म की व्यवस्था तथा सञ्चालन का उत्तरदायित्व राजा के ही ऊपर एकमात्र रहता है। यदि राजा प्रजा का पालन नहीं करे, तो प्रजा ही एक दूसरे को न खा डालेगी, प्रत्युत वेदत्रयी का भी अस्तित्व लोप हो जायेगा और विश्व को धारण करनेवाला धर्म भी रसातल में डूब जायगा।[1] राजधर्म के विघटन पर समाज तथा राष्ट्र का सर्वनाश हो जाता है। राजनीतिक नेता के लिए महाभारत एक विलक्षण आदर्श उपस्थित करता है जो आज भी उतने ही सुन्दर रूप से अनुकरणीय है तथा ग्राह्य है। भारत कृषि-प्रधान राष्ट्र है। अतः व्यासजी का आग्रह है कि जो नेता स्वयं अपने हाथों कृषि नहीं करता, खेत नहीं जोतता जाता उसे नेता बनाकर राष्ट्र की समिति में जाने का अधिकार नहीं होता।

न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत् कृषिम् ।
(उद्योग ३६।३१)

---

[1] राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते ।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम् ।
मज्जेद धर्मं त्रयी न स्याद्यदि राजा न पालयेत् ॥
(शान्ति ६८ अ०)

ठीक ही है, किसानों का नेता किसान ही हो सकता है। कृषि से अनभिज्ञ, कुर्सीतोड़, बकवादी नेता किसानों का कौन सा मंगल कर सकता है?

अध्यात्मतत्त्व

व्यासजी अध्यात्म शास्त्र की सूक्ष्म बारीकियों में न पड़कर हमें सुखद तथा नियमित जीवन बिताने की शिक्षा देने पर आग्रह करते हैं। मानव का आध्यात्मिक कल्याण इन्द्रिय निग्रह से ही होता है[1]। मनुष्य इन्द्रियों का दास बनकर पशुभाव को प्राप्त होता है और इन्द्रियों का स्वामी बनकर अपने जीवन को सफल बनाने में समर्थ होता है। एक स्थान पर व्यास की यह सारगर्भित उक्ति है कि वेद का उपनिषद् अर्थात् रहस्य है—सत्य। सत्य का भी उपनिषत् है—दम और इसी दम—इन्द्रिय दमन का—रहस्य है मोक्ष। समग्र अध्यात्म शास्त्र का यही निचोड़ है—

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः ।
दमस्योपनिषत् मोक्षः एतत् सर्वानुशासनम् ।
(शान्ति २९९।१३)

'करनी बड़ी है कथनी से'—व्यासजी की यही मान्य शिक्षा है मानवों के लिए। महाभारत में किसी बोध्य ऋषि के द्वारा कही गई यह प्राचीन गाथा इसी तथ्य पर जोर देती है—

उपदेशेन वर्तामि नानुशास्मीह कञ्चन ।
(शान्ति १७८।६)

भारतीय संस्कृति आर्जव—ऋजुभाव—स्पष्ट कथन तथा सीधे आचरण को ही मानव जीवन में नितान्त महत्त्व देती है। वह जिह्म मार्ग—टेढ़ा रास्ता—मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् को मृत्यु का रूप बतलाती है तथा प्राणियों को उसके मानने से सदा दूर भागने का उपदेश देती है—

---

[1] आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रिय निग्रहात् । उद्योग ६६।३७

सर्वं जिह्म मृत्युपदमार्जव ब्रह्मण पदम्
एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलाप करिष्यति ॥
(आश्व० ११४)

काल के चक्र से कोई बच नहीं सकता। पाण्डवों की विषम तथा समृद्ध दशाओं के आलोचक की दृष्टि में काल की महिमा अपरिमेय है। काल ही कभी बलवान् बनता है और कभी दुर्बल। वही जगत् को अपनी इच्छा से मथता है। इसी चक्र के भीतर यह समग्र विश्व अपनी सत्ता धारण किये हुए है। यह दैव निर्मित मार्ग है जिसे लाख चेष्टा करने पर भी कोई पलट नहीं सकता। मानव जीवन का श्रेयस्कर मार्ग है धर्म का आश्रय लेकर आत्मविजय करना। व्यास जी ने आत्म-साक्षात् के लिए बड़ी सुन्दर उपमा दी है। जिस प्रकार मूंज से सींक का अलग किया जाता है, उसी प्रकार पञ्चकोशों में अन्तर्निहित चैतन्यरूप आत्मा को भी साधक पृथक् कर साक्षात्कार करता है। आनन्दवर्धन का तो यह स्पष्ट सम्मति है कि महाभारत का मुख्य रस शान्त रस है। नाना विकट प्रपंचों से न लिप्त होकर मानव आत्मस्वरूप का परिचय पाकर मोक्ष का सम्पादन करे महाभारत की यही अमूल्य शिक्षा है।

९

तुलना

रामायण और महाभारत की तुलना करने से अनेक आवश्यक तथ्यों का पता चलता है। मुख्य तुलना दो विषयों में की जा सकती है। प्रथम तो उनके वर्णनीय विषय को लेकर और दूसरा उनके रचना काल को लेकर। रामायण आदिकाव्य माना जाता है और महाभारत इतिहास गिना जाता है। इस साम्प्रदायिक भेद का यह अभिप्राय है कि रामायण में काव्यगत चमत्कार महत्त्व की वस्तु है। महाभारत में प्राचीनकाल के अनेक प्रसिद्ध राजाओं

के इतिवृत्त का वर्णन करना ही ग्रन्थकार का उद्देश्य है। इसीलिए रामायण में राम रावण युद्ध की घटना ही सर्वतोभावेन मुख्य है। अन्य छोटे मोटे कथानक भी हैं, परन्तु वे प्रधान वृत्त को पुष्ट करने के लिए ही रचित हैं। उधर महाभारत में प्रधान घटना कौरवों तथा पाण्डवों का युद्ध है, पर इसके साथ-साथ प्राचीन काल की अनेक कथाएँ अवान्तर रूप से दी हुई हैं जो मुख्य घटना से कम महत्त्व नहीं रखता।

दोनों का भौगोलिक विस्तार भिन्न भिन्न है। रामायण में जिस भारतवर्ष की चर्चा है उसकी दक्षिणी सीमा विन्ध्य और दण्डक है, पूर्वी सीमा विदेह है तथा पश्चिमी सीमा सुराष्ट्र है। परन्तु महाभारत के समय आर्य्यावर्त का विशेष विस्तार दीख पड़ता है। पूर्वी सीमा गङ्गासागर का सङ्गम है, दक्षिण में चोल तथा मालाबार प्रान्तों की चर्चा है। इतना ही नहीं, लङ्का के भी अधिपति उपहार लेकर युधिष्ठिर के राजसूय में उपस्थित होते हैं।

दोनों के स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर है। रामायण में एक ही कवि की कोमल लेखनी ने अपना चमत्कार दिखलाया है। कविता में समरसता है, शब्द और अर्थ का मञ्जुल सामञ्जस्य है जिससे यह स्पष्ट है कि इसके रचना का श्रेय किसी एक ही व्यक्ति को है। परन्तु महाभारत के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह तो अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयासों का फल है। धीरे धीरे अपने अल्पकलेवर से बढ़ता हुआ वह लक्षश्लोक विशालकाय ग्रन्थ के रूप में आ गया है। रामायण के लेखक की चर्चा कहीं नहीं है, प्रत्युत लव तथा कुश के द्वारा उसके गाये जाने की बात से हम परिचित हैं।[1] परन्तु महाभारत लिपिबद्ध किया गया ग्रन्थरत्न है, जिसके प्रथम लिपिबद्ध करने का श्रेय स्वयं गणेशजी को प्राप्त है। व्यासजी बोलते जाते थे और गणेशजी उसे लिखते जाते थे।

---

[1] ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनां च समागमे।
यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगतुस्तौ समाहितौ ॥ १२ ॥

—बालकाण्ड, ४ सर्ग

रचनाकाल की तुलना

रामायण और महाभारत में किसकी रचना पहले हुई ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। गत शताब्दी के प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डाक्टर वेबर ने पहले पहल यह कहना प्रारम्भ किया था कि रामायण की अपेक्षा महाभारत की रचना पहले हुई थी। रामायण में सुन्दर पदविन्यास तथा सुबोध रचना को वे अर्वाचीनता का परिचायक मानते थे। भारत के भी कतिपय विद्वानों ने इसी मत की घोषणा की, परन्तु भारतीय परम्परा उक्त मत के अत्यन्त विरुद्ध है। वाल्मीकि आदिकवि हैं और महाभारत के रचयिता व्यास उनके पश्चाद्वर्ती द्वितीय कवि हैं। युग के हिसाब से भी अन्तर पड़ता है। वाल्मीकि त्रेता युग में होनेवाले रामचन्द्र के समकालिक हैं और व्यास द्वापर युग में उत्पन्न होनेवाले पाण्डवों के समसामयिक हैं। इतना ही नहीं, दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट पता चलता है कि कालक्रम में वाल्मीकि रामायण महाभारत से पहले की रचना है। इसके साधक प्रमाण मुख्यत नीचे दिये जाते हैं—

(१) महाभारत के पात्रों के चरित्र में तथा घटनाओं में व्यावहारिकता का पुट है। जुआ खेलना, खेल में हार जाना, राज्य का न मिलना और उसके लिये युद्ध करना आदि घटनायें व्यवहार तथा विश्वास के क्षेत्र से बाहर नहीं हैं। पर रामायण में ऐसी घटनाएँ हैं जिन पर साधारण मनुष्य अपना विश्वास नहीं जमा पाता। सन्तान के लिये पुत्रेष्टि याग करना, रीछ और वानरों की सहायता से लड़ना, समुद्र के ऊपर पत्थर का विराट पुल बाँधना, रावण का दश सिर होना आदि घटनाएँ मानव संस्कृति की उस प्राथमिक दशा की ओर संकेत करती हैं जब आश्चर्यजनक घटनाओं में विश्वास करना कोई अस्वाभाविक बात न था।

(२) रामायण में आर्य सभ्यता अपने विशुद्ध रूप में चित्रित की गई है। उसमें म्लेच्छों का, जो सम्भवत भिन्न वर्ग तथा संस्कृति के अनुयायी थे, तनिक भी सम्पर्क नहीं दीख पड़ता। परन्तु महाभारत में म्लेच्छों का सम्पर्क पर्याप्त रूप से विद्यमान है। दुर्योधन की आज्ञा से जिस पुरोचन

नामक मन्त्री ने लाख (लाक्षा) का घर बनाया था वह म्लेच्छ ही था। महाभारत के युद्ध में दोनों ओर से लड़ने वाले अनेक म्लेच्छ राजाओं के भी नाम मिलते हैं। इतना ही नहीं, विद्वान् लोग म्लेच्छों की भाषा से भी परिचित थे। विदुर ने इसी म्लेच्छ भाषा में युधिष्ठिर को लाख के घर की घटना की सूचना पहले ही सभा में दे रखी थी। उक्त भाषा का प्रयोग इसलिये किया गया कि अन्य सभासद् इसको समझ न सकें।[1]

(३) भौगोलिक दृष्टि से विचार करने पर भी महाभारत पीछे लिखा गया मालूम होता है। रामायण की रचना के समय में दक्षिण भारत में अनार्य जंगली जातियों का ही निवास था। आर्यों की सभ्यता विन्ध्य पर्वत तक ही सीमित थी। परन्तु महाभारत के समय में दक्षिण भारत राजनीतिक दृष्टि से व्यवस्थित, सुशासित तथा सभ्य दीख पड़ता है। भीष्मपर्व में दक्षिण भारत के राजाओं के प्रतिनिधि राजसूय यज्ञ में उपहार लेकर उपस्थित होते हैं। दक्षिण भारत का यह राजनीतिक परिवर्तन सूचित करता है महाभारत की रचना पीछे हुई।

(४) महाभारत युद्ध में युद्धकला की विशेष उन्नति दिखाई पड़ती है। द्रौपदी के स्वयंवर में सीता-स्वयंवर के समान केवल एक धनुष का तोड़ देना ही वीरत्व का मापदण्ड नहीं है, प्रत्युत एक विशिष्ट प्रकार से लक्ष्य-भेद करना वीरता की कसौटी है। लंकायुद्ध में योद्धागण परस्पर केवल पत्थरों और वृक्षों से प्रहार करते हैं, परन्तु महाभारत युद्ध में सैनिक लोग विशिष्ट सेनापति की देख रेख में लड़ते हैं। व्यूह की रचना इस युद्ध की महती विशेषता है जिसमें अल्पसंख्यक सैनिक बहुसंख्यक

---

[1] इस भाषा का उल्लेख निम्नलिखित श्लोक में किया गया है जिसके अर्थ को समझने के लिये नीलकण्ठ की टीका देखना आवश्यक है —

प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः ।
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञं वचोऽब्रवीत् ॥१४५॥

आदिपर्व, अ० २०

सेना के आक्रमण को रोकने से असमर्थ होते हैं। युद्धकला का यह महाभारत-कालीन विकास इस बात को प्रमाणित कर रहा है कि महाभारत बाद की रचना है।

(५) दोनों का सामाजिक दशा में विशेष अन्तर है। रामायण का समाज आदर्शवाद पर प्रतिष्ठित है। पिता कुटुम्ब का नेता तथा पोषक है। राम आदर्श पुत्र हैं, भरत भ्रातृत्व के गुणों के आगार हैं, सुग्रीव मित्रता की कसौटी हैं। इधर महाभारत की सामाजिक दशा में आदर्शवाद के लिए स्थान नहीं है। भरत के समान भीम अपने पितृतुल्य जेठे भाई के आदेश का पालन करना अपना कर्तव्य नहीं मानते। यदि धर्मराज सन्धि करने के इच्छुक हैं तो वे उनका घोर विरोध करने पर तुले हैं। विजय की सिद्धि के लिए चोरी करना या असत्य भाषण किसी प्रकार का पाप नहीं माना जाता था।

(६) रामायण में नैतिक भावना अपने ऊँचे आदर्श पर प्रतिष्ठित है, परन्तु महाभारत में यह भावना ह्रास को पाकर नीचे खिसकने लगी है। मैथिली तथा द्रौपदी के चरित्र की तुलना इसे स्पष्ट करती है। सुन्दरकाण्ड में हनुमान सीता को अपनी पीठ पर बैठाकर राम के पास चलने का प्रस्ताव करते हैं, परन्तु सीता पर पुरुष के शरीर का स्पर्श नहीं कर सकती हैं। अतः वह इसे तिरस्कार कर देती हैं। रावणवध के अनन्तर सीता कठिन अग्नि-परीक्षा में तप्त होकर अपने पावन चरित्र को सिद्ध करती है। महाभारत की द्रौपदी काम्यक वन में जयद्रथ के द्वारा हरण की जाती है परन्तु उसका पुनर्ग्रहण बिना किसी रोक टोक के धीरे से कर लिया जाता है।

(७) रामायण में महाभारत की घटनाओं तथा पात्रों का उल्लेख तक नहीं है, परन्तु महाभारत रामायण की कथा तथा पात्रों से पूरी तरह परिचित है। वनपर्व के तीर्थयात्रा प्रसंग में शृंगवेरपुर[1] (प्रयाग जिले का सिंगरामऊ)

---

[1] वनपर्व ८५।६५

तथा गोप्रतार[1] (फैजाबाद में सरयू का गुप्तार घाट) तीर्थ में गिने गये हैं, क्योंकि पहले स्थान पर राम ने गंगा पार किया और दूसरे पर वे अपनी प्रजाओं के साथ भूलोक से स्वर्ग में चले गये। वनपर्व के अध्यायों में (अ० २७३-९३) रामोपाख्यान पर्व है जिसमें रामचन्द्र की कथा विस्तार से वर्णित है। इस उपाख्यान में वाल्मीकीय रामायण के श्लोक ज्यों के त्यों रखे गये हैं। उपमायें तथा कल्पनायें वाल्मीकि से ली गई हैं।

रामायण के श्लोकों की समता केवल रामोपाख्यान में ही उपलब्ध नहीं होती, प्रत्युत महाभारत के अन्य पर्वों में भी यह समता तथा निर्देश नितान्त सुस्पष्ट है। उदाहरणार्थ माया सीता के मारते समय इन्द्रजीत ने हनुमानजी से जो वचन कहे थे, वे ही वचन द्रोणपर्व में भी अक्षरशः प्राप्त होते हैं।

न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवंगम।
पीडाकरममित्राणां यच्च कर्तव्यमेव तत्॥—युद्ध ८१।२८

अपि चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि।
न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवंगम॥
सर्वकालं मनुष्येण व्यवसायवता सदा।
पीडाकरममित्राणां यत् स्यात् कर्तव्यमेव तत्॥—द्रोणपर्व

इन प्रमाणों के अनुशीलन से किसी भी निष्पक्ष आलोचक को भारतीय परम्परा की सत्यता पर अविश्वास नहीं हो सकता कि रामायण कालक्रम से महाभारत से पूर्व की रचना है।

७

श्रीमद्-भागवत

पुराणों के रचनाकाल का निर्णय एक झमेले की चीज है। पश्चिमी शिक्षा के दूषित वातावरण में पुराण के रूप को ठीक ठीक न समझना कोई

---

[1] वनपर्व ८५।७०।

नई बात नहीं है। पुराणों की कथाओं, घटनाओं तथा कालनिर्देशों के वास्तव महत्त्व से अपरिचित आलोचकों की दृष्टि में पुराण एक बड़ा बीहड़ बखेड़ा खड़ा करता है। वे लोग इसे लेखकों की अश्रान्त कल्पना का एक विभ्राट् मानने के अतिरिक्त विशेष महत्त्व नहीं देते। इसका मुख्य कारण दूषित भावना के अतिरिक्त पुराणों के गाढ अनुशीलन का अभाव भी है। अब तक इसी भावना के कारण न तो पुराणों का कोई प्रामाणिक संस्करण ही उपलब्ध है जिसका पाठ अनेक प्रतियों की तुलना के द्वारा निश्चित किया गया हो और न पुराणों के विविध विषयों की सहानुभूतिपूर्ण गहरी छानबीन ही की गई है। परन्तु इधर विद्वानों की रुचि कुछ बदली है। अब वे समझने लगे हैं कि पुराणों की अपनी एक स्वतन्त्र शैली है जिसमें वर्णित विषय के बाह्य रूप को हटाकर भीतर पैठने पर उसकी प्रामाणिकता स्वयं झलकने लगती है। प्राचीन इतिहास प्रस्तुत करने में भी 'पञ्चलक्षण'[1] पुराणों की अपनी एक विशिष्ट दिशा है। वे कतिपय देशों के ही एकाङ्गी वृत्त के वर्णन करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं मानते, बल्कि ब्रह्माण्ड की सृष्टि से लेकर प्रलय तक महनीय घटनाओं के अङ्कन में निमग्न रहते हैं। राजवंशों में भी प्रधान का ही उल्लेख किया गया है तथा उन्हीं राजाओं का भी चरित्र चित्रित किया गया है जो उपदेशप्रद होते हैं तथा जिनका चरित्र किसी आदर्श को अग्रसर करने के लिए प्रस्तुत किया गया है। भागवत में इस बात का विशद निर्देश है कि यहाँ उन्हीं राजाओं के चरित्र का वर्णन है, जो स्वयं आदर्श-चरित्र यशस्वी तथा सदाचार-सम्पन्न थे। 'जायस्व म्रियस्व' की कोटि में आने वाले ऐरे गैरे राजाओं का वर्णन करने में पुराणकार अपने परिश्रम तथा काव्यशक्ति का दुरुपयोग करना नहीं चाहता। विशेष ज्ञान तथा वैराग्य का वर्णन ही ग्रन्थ का प्रधान उद्देश्य है, राजाओं के चरित्र चित्रण का वर्णन नहीं :—

कथा इमास्ते कथिता महीयसां
विनाय लोकेषु यशः परेयुषाम्।

---

[1] सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

> विज्ञान-वैराग्य-विवक्षया विभो
> वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम् ॥
>
> —भाग० १२।२।८

परन्तु आजकल के खोजी विद्वान् पुराणों के इस रहस्य को न समझ कर उनमें आपाततो दृश्यमान विरोध तथा वर्णनवैषम्य के कारण उन्हें सर्वथा निर्मूल, निराधार तथा अप्रामाणिक बकवास का दृढ घोषणा करते हैं।

रचनाकाल

श्रीमद्भागवत के विषय में भी एक, दो बेसिर-पैर की बातें विद्वान् लोग करते आये हैं। उसके रचना-काल के निर्णय से पहिले उसके पुराणत्व के ऊपर ही बहुतों की बड़ी शंका बनी हुई है। 'देवी भागवत' को भी भागवत नाम से सामान्यतः अभिहित होने के कारण यह शंका और भी बढ़ गई है। प्रश्न यह कि देवी भागवत अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत है अथवा श्रीमद्भागवत? पुराणों के वर्णित ग्रन्थ-विस्तार तथा रूप निर्देश का अध्ययन करने पर श्रीमद्भागवत के महापुराणत्व में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता है। यह गायत्री से आरम्भ होता है[1] तथा गायत्री में ही अन्त होता है[2]। षष्ठ स्कन्ध में वृत्रासुर के वध की भी कथा विस्तार से दी गई है। ऐसी दशा में श्रीमद्भागवत को महापुराण मानना ही उचित प्रतीत होता है।

श्रीमद्भागवत के निर्माण का श्रेय त्रयोदश शतक में उत्पन्न बोपदेव को प्रदान कर यह समस्या और भी उलझा बना दिया गया है। डाक्टर भण्डारकर के मतानुसार भागवत के ११ वें स्कन्ध (५।३७-४०) में तामिल देश के वैष्णव सन्तों—आळवारों—का स्पष्ट निर्देश होने से वह नवम शताब्दी से पूर्ववर्ती नहीं हो सकता[3]। परन्तु ये दोनों मत भ्रान्त हैं। भागवत

---

[1] धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि। भाग० १।१।१

[2] तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि। भाग० १२।१३।१९

[3] भण्डारकर—वैष्णविज्म शैविज्म नामक ग्रन्थ में।

बोपदेव तथा अलवार दोनों से प्राचीनतर है। देवगिरि के यादव राजा महादेव (१२६०–१२७१ ई०) तथा रामचन्द्र (१२७१—१३०८ ई०) के प्रधानमन्त्री हेमाद्रि पण्डित के तुष्ट्यर्थ इनके सभासद बोपदेव ने 'हरिलीलामृत' तथा 'मुक्ताफल' की रचना भागवत पुराण के विषय में की थी। 'हरिलीलामृत' में भागवत के स्कन्धों तथा अध्यायों की विशिष्ट सूची है और एतदर्थ यह 'भागवतानुक्रमणी' के नाम से भी अभिहित किया जाता है[1]। 'मुक्ताफल' भागवत के नाना रसात्मक कमनीय पद्यों का एक सुललित संग्रह है[2]। हेमाद्रि ने 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' में प्रमाण देने के निमित्त भागवत के श्लोकों को उद्धृत किया है। यदि बोपदेव ही इसके सच्चे रचयिता होते तो मुक्ताफल जैसे संग्रह की न तो कोई आवश्यकता होती और न हेमाद्रि के द्वारा प्रमाणार्थ उद्धरण का कोई स्वारस्य होता। तथ्य यह है कि भागवत त्रयोदश शतक में विद्यमान इन ग्रन्थकारों से बहुत प्राचीन है।

द्वैतमत के संस्थापक मध्वाचार्य (जन्मकाल ११९९ ई०) ने भागवत के मूल तात्पर्य के प्रकटन के निमित्त 'भागवत तात्पर्य निर्णय' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ का प्रणयन किया है। श्री रामानुजाचार्य (११ शतक) ने अपने 'वेदान्त तत्त्वसार' में भागवत की वेदस्तुति (१०।८७ अ०) से अनेक पद्यों को उद्धृत किया है। अद्वैतवेदान्त के आचार्य चित्सुख (नवम शतक) के द्वारा निर्मित भागवत व्याख्या का निर्देश मध्वाचार्य, श्रीधर स्वामी तथा विजयध्वज ने अपने ग्रन्थों में किया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मान्य आचार्य अभिनवगुप्त (१० शतक) ने अपनी गीता टीका (१४।८) में भागवत के द्वितीय तथा एकादश स्कन्ध से कतिपय पद्यों को उद्धृत किया है। माठर ने सांख्यकारिका की माठरवृत्ति में (जिसका चीनी अनुवाद ५५७ ई०—५६९ ई० के बीच में कभी हुआ था) भागवत से दो श्लोकों को प्रमाण रूपेण उपन्यस्त किया है (भाग० १।६।३५, तथा १।८।५२)। शङ्कराचार्य

---

[1] चौखम्भा संस्कृत सीरीज, काशी से १९३३ में मुद्रित।

[2] कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज में प्रकाशित।

न (सप्तम शतक) अपने 'गोविन्दाष्टक' तथा 'प्रबोधसुधाकर' में श्रीकृष्ण के स्तुति-प्रसङ्ग में ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया है जो भागवत में ही उपलब्ध होती हैं। जैसे मट्टी खाने के बाद मुख के भीतर अखिल ब्रह्माण्ड का दर्शन आदि ; इतना ही नहीं, शङ्कराचार्य के दादागुरु गौडपादाचार्य ने 'पञ्चीकरण-व्याख्या' में 'जगृहे पौरुषं रूपम्' (भाग० १।३।१) को तथा उत्तरगीता की टीका में 'श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो' (भाग० १०।१४।४) को भागवत के नाम से ही उद्धृत किया है। गौडपाद का काल आधुनिक गवेषणा के अनुसार षष्ठ शतक से अर्वाचीन नहीं हो सकता। ऐसी दशा में गौडपाद के निःसन्दिग्ध उद्धरणों के कारण भागवत षष्ठ शतक से कतिपय शताब्दी प्राचीनतर ही सिद्ध होता है। पद्मपुराण के भागवत-माहात्म्य के अनुसार तो श्रीकृष्ण के इस धराधाम से ३० वर्ष छोड़ने के बाद भाद्र शुक्ल नवमी को शुकदेव जी ने महाराज परीक्षित को यह कथा सुनाई थी। फलतः भागवत की रचना कलियुग आरम्भ होने के तीस वर्ष के भीतर ही हुई थी। इस प्रकार भारतीय परम्परा के अनुसार इसे पाँच हजार वर्ष पुराना होना चाहिए।

टीका-सम्पत्ति

श्रीमद्भागवत पाण्डित्य की कसौटी माना जाता है। यह समस्त श्रुतियों का सार है, महाभारत का तात्पर्य-निर्णायक है तथा ब्रह्मसूत्रों का भाष्य है। अनेक स्थलों पर श्रुतियों के प्रसिद्ध मन्त्र स्वल्प शब्दान्तर के साथ यहाँ संगृहीत किये गये हैं। ब्रह्मात्मैकत्व का प्रतिपादन प्रधान विषय तथा वैदुष्य ही इसके निर्माण का प्रधान प्रयोजन होने से श्रीमद्भागवत नितान्त वैदुष्य-पूर्ण, रहस्यमूलक तथा दुरवगम्य है। 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' की लोकोक्ति सत्यवाद है इसमें विवाद नहीं। इन दार्शनिक ग्रन्थियों को सुलझाने के लिए ही मध्ययुगीन प्रत्येक वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने इसके ऊपर टीका तथा व्याख्या का प्रणयन कर इसे सुगम तथा बोधगम्य बनाने का श्लाघ्य प्रयास किया। टीका-सम्पत्ति की दृष्टि से भी यह ग्रन्थरत्न अनुपमेय है। चित्सुखाचार्य लिखित प्राचीन टीका केवल निर्देशमात्र है, उपलब्ध नहीं। सबसे

अधिक प्राचीन तथा प्रामाणिक टीका श्रीधरस्वामी की है जो नृसिंह भगवान् के प्रसाद से भागवत के रहस्यवेत्ता माने जाते हैं। लघुकाय होने पर भी श्रीधरी निःसन्देह विशद तथा सर्वश्रेष्ठ भागवतव्याख्या है। विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के मान्य टीकाकार सुदर्शन सूरि (१४ शतक) की 'शुकपक्षीया' तथा वीरराघवाचार्य (१४ श०) की 'भागवत चन्द्रचन्द्रिका' दोनों श्रीवैष्णवों में आदरणीय तथा उपादेय व्याख्यायें हैं। विजयध्वजतीर्थ रचित 'पदरत्नावली' माध्व सम्प्रदाय के अनुकूल भागवत की मौलिक टीका है जिसमें श्रीधरी की अपेक्षा भागवत के पाठों तथा अध्यायों में भी पर्याप्त पार्थक्य है। चैतन्य सम्प्रदाय में श्रीधरी की मान्यता अक्षुण्ण है परन्तु इसके अतिरिक्त भी सनातन गोस्वामी का दशमस्कन्ध पर 'बृहद् वैष्णवतोषिणी', जीव गोस्वामी की समग्र भागवत पर 'क्रमसन्दर्भ' तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती की 'सारार्थदर्शिनी' व्याख्यायें नितान्त मौलिक तथा सारदर्शिनी हैं। जीवगोस्वामी का 'षट्सन्दर्भ' तो भागवत के आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का नितान्त प्रामाणिक विवेचन है। वल्लभाचार्य की 'सुबोधिनी' भागवत के अन्तरंग भाव तथा अधिकार-विवेचन के हेतु अपनी निजी विशेषता से मण्डित है। श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायी शुकदेवाचार्य का 'सिद्धान्त प्रदीप' संक्षिप्त होने पर भी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का भव्य प्रदर्शन है। इन प्राचीन प्रधान टीकाओं के अतिरिक्त अनेक आधुनिक टीकायें भी उपलब्ध हैं। श्रीहरि की 'हरिभक्ति रसायन' नामक पद्यात्मक टीका (रचनाकाल १७५८ श[illegible]०) भागवत के मधुर भावों के प्रदर्शन में नितान्त कृतकार्य तथा सफल है। भागवत की यह विशाल व्याख्यासम्पत्ति भक्तिशास्त्र के सिद्धान्तों का समझने के लिए एक भव्य ग्रन्थराशि प्रस्तुत करती है।

काव्य-सौन्दर्य

श्रीमद्भागवत की कविता में अद्भुत चमत्कार है जो सैकड़ों वर्षों से सहृदय पाठकों को अपनी शब्दमाधुरी तथा अर्थचातुरी से हठात् आकृष्ट करता आ रहा है। नवीन साहित्यिक दृष्टिभंगि के उदय ने भी इस आकर्षण में किसी प्रकार की न्यूनता उत्पन्न नहीं की है। भागवत रस तथा माधुर्य का

अगाध रखते हैं। नाना परिस्थितियों के परिवर्तन से उत्पन्न होनेवाले मानव हृदय को उद्वेलित करनेवाले भावों के चित्रण में भागवत अद्वितीय काव्य है इसमें हृदय पक्ष का प्राधान्य होने पर भी कलापक्ष का अभाव नहीं है। मथुरा का (भाग १०।४१) तथा द्वारिका का वर्णन (भाग० १०।६७) जितना कलात्मक है, उतना ही स्वाभाविक तथा यथार्थ है नाना भयानक युद्धों का चित्रण। केशी नामक असुर अश्व का विकराल रूप धारण कर श्रीकृष्ण को मारने के निमित्त आया था। कृष्ण ने केशी के साथ युद्ध करने में जिस युद्ध-कौशल का परिचय दिया है, वह वर्णन की यथार्थता के कारण पाठकों के सामने झूलने लगता है (भाग० १०।३७)। इसी प्रकार मगधनरेश जरासन्ध तथा भीमसेन के प्रलयंकर गदायुद्ध का सातिशय रोमांचकारी चित्रण भागवत में फड़कती भाषा में किया गया है (भाग० १०।५०)। द्वारिकापुरी के वर्णनप्रसंग में झरोखों से निकलनेवाले अगुरु धूप को देखकर श्याम मेघ की भावना से वलभी-निवासी मत्त मयूरों का का यह नर्तन कितना सुखद तथा मनोहर प्रतीत होता है—

रत्न-प्रदीपनिकर-द्युतिभिर्निरस्त—
ध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग।
नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमक्षै-
र्निर्यान्तमीक्ष्य घन-बुद्धय उन्नदन्तः॥
(भाग० १०।६९।१२)

उतना ही स्वाभाविक है मधुपुरी में कृष्णचन्द्र के आगमन की वार्ता सुनकर उतावली में अपनी शृंगार-भूषा को बिना समाप्त किये ही झरोखों से झाँकनेवाली ललित ललनाओं का ललाम वर्णन (भाग० १०।४१।२५—२७)। आलोचकों की दृष्टि में भागवत का ऋतुवर्णन भी आध्यात्मिक दृष्टि को प्रस्तुत करने के लिए नितान्त प्रख्यात है। दशमस्कन्ध के एक समग्र अध्याय (२० वाँ अध्याय) में प्रावृट् तथा शरद् ऋतु का यह आध्यात्मिकतामण्डित वर्णन वस्तुतः अनुपम तथा चमत्कारी है। वर्षा की धाराओं से ताडित होने पर भी किंचिन्मात्र भी व्यथित न होने वाले पर्वतों की समता उन भगवन्निष्ठ

भक्तजनों के साथ की गई है जो विपत्तियों के द्वारा प्रताडित होने पर भी किसी प्रकार क्षुब्ध नहीं होते[1]। पवन से ऊँची उठती हुई तरंगमाला से युक्त समुद्र नदियों के समागम से उसी प्रकार क्षुब्ध होता है जिस प्रकार कच्चे योगी का वासनापूर्ण चित्त विषयों के सम्पर्क में पड़कर क्षुब्ध हो उठता है[2]। शरद् भी उतनी ही चारुता के साथ वर्षा के अनन्तर आती है और अपनी रुचिरता की भव्य झाँकी पृथ्वीतल पर दिखलाती है। रात के समय चन्द्रमा प्राणियों के सूर्य की किरणों से उत्पन्न ताप को दूर करता है। विमल ताराओं से मण्डित मेघहीन गगनमण्डल उसी तरह चमकता है जिस प्रकार शब्दब्रह्म के द्वारा अर्थ का दर्शन प्राप्त कर योगियों का सात्त्विक चित्त विकसित हो उठता है —

खमशोभत निर्मेघं शरद्—विमलतारकम्।
सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम्॥
(भाग० १०।२०।४३)

गोसाईं तुलसीदास का सुप्रसिद्ध वर्षा तथा शरद् वर्णन भागवत के इसी वर्णन के आधार पर है, इसे विशेष रूप से बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

परन्तु भागवत का सबसे अधिक मधुर तथा सुन्दर अंश वह है जहाँ गोपियों की कृष्णचन्द्र के प्रति ललित प्रेमलीला का रुचिर चित्रण है। गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों पर अपने जीवन को समर्पण करनेवाली अनन्यनिष्ठ प्रेमिकायें थीं। उनकी संयोग तथा वियोग उभय

---

[1] गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षजचेतसः॥
—भाग० १०।२०।१५

[2] सरिद्भिः संगतः सिन्धुः चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान्।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा॥
—भाग० १०।२०।१४

प्रकार की भावनाओं के चित्रण में कवि ने अपनी गहरी अनुभूति तथा गम्भीर मनोवैज्ञानिक भाव-विश्लेषण का पूर्ण परिचय दिया है। ऐसे प्रसंग जहाँ भक्त अपने हृदय की अन्तरतम गुहा में कल्लोलित भावों की अभिव्यक्ति करता है 'गीत' के नाम से अभिहित किये गये हैं। इन गीतों का प्राचुर्य दशम स्कन्ध में उपलब्ध होता है। वेणु गीत (१०।२२), गोपी गीत (१०।३२) युगल गीत (१०।३५), महिषी गीत (१०।९०), आदि भागवत के ऐसे ललित प्रसंग हैं जिनमें कवि की वाणी अपनी भाव माधुरी उद्गीर्ण कर रसिकों के हृदय में उस मनोरम रस की सृष्टि करती है जिसे आलोचक 'भागवत रस' के महनीय नाम से पुकारते हैं। कृष्ण के विरह में व्याकुल महिषी जनों का यह उपालम्भ कितना मीठा तथा तलस्पर्शी है—

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोध ।
वयमिव सखि कच्चित् गाढनिर्भिन्नचेता
नलिन-नयनहास्योदारलीलेक्षितेन ॥

(भाग० १०।९०।१५)

हे कुररि! संसार में सब ओर सन्नाटा छाया हुआ है। इस समय स्वयं भगवान् अपना अखण्ड बोध छिपा कर सो रहे हैं। परन्तु तुझे नींद नहीं? सखी कहीं कमलनयन भगवान् के मधुर हास्य और लीलाभरी उदार चितवन से तेरा हृदय भी हमारी ही तरह बिंध तो नहीं गया है?

वेणु गीत में कृष्ण के मुरलीवादन के विश्वव्यापी प्रभाव का वर्णन इतनी सूक्ष्मता तथा इतनी मधुरता से किया गया है कि पाठक के हृदय में एक अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। मुरली का प्रभाव केवल जंगम प्राणियों के ऊपर ही नहीं है, प्रत्युत स्थावर जगत् में भी वह उतना ही जागरूक तथा क्रियाशील है। नदियों का वेणुगीत को आकर्णन कर यह आचरण जितना मधुर है उतना ही स्वाभाविक है—

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत—
मावर्त — लक्षित मनोभवभग्नवेगाः ।
आलिङ्गन — स्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे—
गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥
(भाग० १०।२१।१५)

नदियाँ भी मुकुन्द के गीत को सुनकर भँवरों के द्वारा अपने हृदय में श्यामसुन्दर से मिलने की तीव्र आकांक्षा को प्रकट कर रही हैं। उसके कारण इनका प्रवाह रुक गया है। ये अपने तरंगों के हाथों से उनका चरण पकडकर कमल के फूलों का उपहार चढ़ा रही हैं और उनका आलिङ्गन कर रही हैं, मानो उसके चरणों पर अपना हृदय ही निछावर कर रही हैं।

रासपञ्चाध्यायी—भागवत का हृदय है जिसमें व्यासजी ने कृष्ण और गोपियों के बीच रासलीला का सुमधुर वर्णन किया है। इसका आध्यात्मिक महत्त्व जितना अधिक है साहित्यिक गौरव भी उतना ही विपुल है। गोपियों ने कृष्ण के अन्तर्धान होने पर अपने भावों की अभिव्यक्ति जिन कोमल शब्दों में की है वह नितान्त रुचिर तथा सरस है। गोपी गीत का यह पद्य कितना सरल तथा सरस है :—

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥

अर्थात् आप की कथा अमृत है क्योंकि वह संतप्त प्राणियों को जीवन देती है। ब्रह्मज्ञानियों ने भी देवभोग्य अमृत को तुच्छ समझकर उसकी प्रशंसा की है। वह सब पापों को हरनेवाली है अर्थात् काम्य कर्म का निरास करनेवाली है। श्रवणमात्र से मङ्गलकारिणी और अत्यन्त शान्त है। ऐसे तुम्हारे कथामृत को विस्तार के साथ जो पुरुष गाते हैं उन्होंने पूर्व जन्म में बहुत दान किये हैं। वे बड़े पुण्यात्मा हैं।

इसी शब्दमाधुरी तथा भावमाधुरी के कारण भागवत शताब्दियों से भक्ति-प्रवण भक्तों तथा कवियों को समभावेन उत्साह, स्फूर्ति तथा प्रेरणा

देता चला आ रहा है। आज भी उसकी उपजीव्यता किसी भी अंश में घटकर नहीं है।

कृष्णभक्त कवि का प्रधान विषय है—बालकृष्ण की माधुर्यगर्भित ललित लीलाएँ। फलतः उसकी दृष्टि कृष्ण के लोकरंजक रूप के ऊपर ही टिकी रहती है। मानव की कोमल रागात्मिका वृत्तियों की अभिव्यक्ति में कृष्णभक्त कवि सर्वथा कृतकार्य तथा समर्थ होता है। वैष्णव धर्म के उत्कृष्ट प्रभाव से भारतीय साहित्य सौन्दर्य तथा माधुर्य का उत्स है, जीवन का कोमल तथा ललित भावनाओं का अक्षय स्रोत है। जीवन सरिता को सरस मार्ग पर प्रवाहित करनेवाला मानसरोवर है। हमारे साहित्य में प्रगीत मुक्तकों के प्राचुर्य का रहस्य इसी व्यापक प्रभाव के भीतर छिपा हुआ है। वात्सल्य तथा शृङ्गार की नाना अभिव्यक्तियों के चारु चित्रण से हमारा साहित्य जितना सरस तथा रस-स्निग्ध है, उतना ही वह कोमल तथा हृदयावर्जक है भक्त-हृदय की नम्रता, सहानुभूति और आत्मसमर्पण की भावना से। इन्हीं कृष्ण-काव्यों की रचना करने के लिए कवियों को उत्साहित करने का श्रेय श्रीमद्भागवत को देना चाहिये।[1]

---

[1] विशेष के लिए द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय : भागवत सम्प्रदाय (प्र० नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१२)।

द्वितीय खण्ड

श्रव्य काव्य

(१) संस्कृत काव्य
(२) कालिदास
(३) कालिदासोत्तर काव्य
(४) गीति काव्य
(५) गद्य काव्य
(६) कथा साहित्य

सत्कवि-रसना-सूर्पी-
निस्तुषतरशब्दशालिपाकेन ।
तृप्तो दयिताधरमपि
नाद्रियते का सुधादासी ॥

—गोवर्धनाचार्य

चतुर्थ परिच्छेद

संस्कृत काव्य

(क)

संस्कृत काव्य की पृष्ठभूमि

(१) राजसी वातावरण

संस्कृत काव्य का प्रथम अवतार सात्त्विक भावना से नितान्त अनुप्राणित आश्रम के वातावरण में होता है परन्तु उसका अभ्युदय सरस्वती के वरद पुत्रों को आश्रय देकर कवि-कला को प्रोत्साहन देने वाले राजाओं के दरबार में होता है। संस्कृत के मान्य कवियों का सम्बन्ध वैभवशाली महीपालों के साथ सर्वदा स्थापित था। विक्रमादित्य के बिना न कालिदास का उदय सम्भव था, न हर्षवर्धन के बिना बाणभट्ट का। राजशेखर के द्वारा 'काव्यमीमांसा' में निर्दिष्ट राजाओं के द्वारा कवि सभा तथा कवि समादर की घटना में थोड़ी सी अत्युक्ति का पुट किसी आलोचक को भले ही प्रतीत हो, परन्तु काश्मीरक कवि मंख ने अपने 'श्रीकण्ठचरित' महाकाव्य (२५ सर्ग) में महाराज जयसिंह के प्रधानामात्य गुणग्राही 'अलंकार' की सभा में तत्कालीन कविजनों के आदर सत्कार की जो भव्य झाँकी प्रस्तुत की है वह ऐतिहासिक तथ्य है और इसका स्पष्ट प्रमाण है कि गुणग्राही राजा कविजनों की अभ्यर्थना करने में कुछ उठा नहीं रखते थे। राजाओं के ही आश्रय में कविजनों की वाणी को फूटने का अवसर मिलता है, उसकी ही रंगशाला में कविजनों की नाट्यकला अपना रमणीय प्रदर्शन करती है। राजाओं के दरबार वस्तुतः कला तथा कौशल, संस्कृति तथा सभ्यता के प्रधान केन्द्र थे। अतः कवियों की नैसर्गिक प्रतिभा के पनपने का वहाँ पूर्ण उपकरण प्रस्तुत रहता था। सरस्वती तथा लक्ष्मी के आश्रयभूत महीपाल कविजनों के महाकाव्यों के नायक भी बनते थे। ऐसी दशा में राजसी वातावरण में अभ्युदय तथा प्रसार पाने से संस्कृत काव्य नितान्त सुश्लिष्ट, संस्कृत तथा प्रभावशाली हो गया है।

तत्कालीन शिष्ट समाज की रुचि तथा प्रवृत्ति का मनोरम रूप आलोचक को संस्कृत काव्यों के पृष्ठों में उपलब्ध होता है। उस समय की शिष्टता तथा संस्कृति का भव्य प्रतीक होता था नागरक जिसका जीवन ही कला की पूर्ण उपासना में व्यतीत होता था। नागरक के दैनन्दिन जीवन का चटकीला वर्णन वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में हमे उपलब्ध होता है। नागरक का जीवन प्रातःकाल से लेकर रात के पिछले पहरो तक कला-उपासना की एक दीर्घ परम्परा होता था। सुखमय जीवन बिताना ही उसका परम लक्ष्य था और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह सुखमयी सामग्रियो को एकत्र कर जीवन को सरस, मधुर तथा मधुमय बनाता था। उसके प्रत्येक कार्य में कला तथा भव्यता, सौन्दर्य तथा माधुर्य का दर्शन हमे प्राप्त होता है। उद्यान के भीतर उसका रुचिर निवास, स्वच्छ सुथरे सामान, पुस्तकों का चयन, नागदन्त के ऊपर लटकने वाले सफेद धुले हुए रेशमी वस्त्र, कर्णों में स्वरलहरी को घोलने वाली वीणा—नागरक के ये सहज परिकर उसके सरस हृदय तथा कलाप्रेम के भव्य निदर्शन थे। संस्कृत के कविजनों ने नागरक के जीवन को चित्रित करने का प्रयास अपने काव्यों तथा नाटकों में किया। एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि संस्कृत काव्य का श्रोता तथा नाटक का दर्शक कोई सामान्य कलाहीन अरसिक व्यक्ति नहीं होता था, प्रत्युत वह नितान्त सभ्य, शिष्ट, सुरुचिपूर्ण, कलाप्रवीण नागरक होता था जिसका कोमल हृदय करुणोत्पादक दृश्य के अवलोकन से सद्यः पिघल जाता था और आँसुओ के रूप में बह निकलता था। ऐसे 'सहृदय' को लक्ष्य में रखकर निर्मित होने के कारण संस्कृत के काव्यो में भावो की नागरिकता, भाषा का सौष्ठव, ग्राम्यता का अभाव, भावुकता का सद्भाव आदि गुणों का दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक ही है।

(२) जन-जीवन की झाँकी

संस्कृत काव्य की यह भूयसी विशिष्टता है कि वह जन-साधारण के मनोभावों का, हृदय की वृत्तियों का, विभिन्न दशाओं में उत्पन्न होने वाले मानसिक विकारो का चित्रण बड़ी ही कमनीय भाषा में प्रस्तुत करता है।